विश्वभारती पत्रिका

सम्पादक

रामसिंह तोमर

खण्ड ८
अंक १

चैत्र-ज्येष्ठ, २०२४
अप्रेल-जून, १९६७

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक
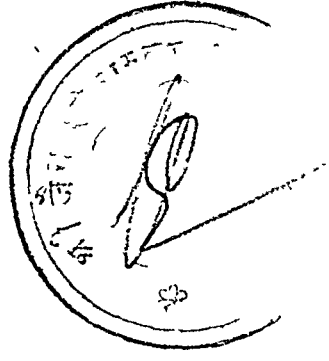
सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्यः नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक, 'विश्वभारती पत्रिका',

हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड ८, अंक १ चैत्र-ज्येष्ठ २०२४

विषय-सूची

इस अंक के लेखक-चित्रकार (अकारादि क्रमसे)

कैलाशनाथ द्विवेदी	एम० ए०, साहित्याचार्य, यू० जी० सी० रिसर्च फेलो, सनातन धर्म कालेज, कानपुर।
जगदीशचन्द्र जैन	एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, रुइया कालेज, बंबई।
जयशङ्कर त्रिपाठी	एम० ए०, डी० फिल्०, संपादकीय विभाग, संगमनी (संस्कृत त्रैमासिक) इलाहाबाद।
द्विजराम यादव	एम० ए०, रिसर्च-स्कालर, हिंदी भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।
पुरुषोत्तम शर्मा	एम० ए०, अनुसंधायक, हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।
प्रतिमा देवी	गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुत्रवधू, शान्तिनिकेतन।
विनोदविहारी मुकर्जी	अध्यक्ष, कलाभवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।
भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैत	एम० ए०, पी-एच० डी० , हिन्दी विभाग, पं वि० वि०, चंडीगढ़।
लाल्ता प्रसाद सक्सेना	एम० ए०, पी एच० डी०, हिंदी विभाग, राजस्थान वि० वि०, जयपुर।
विद्याधर व्यंकटेश वमलवार	रीडर, संगीत भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।
विश्वरूप वसु	अध्यापक, कलाभवन, शान्तिनिकेतन।
रघु_युन् ह्रा	एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यापक, चीनभवन, शान्तिनिकेतन।

निहारिका   शिल्पी—प्रतिमा देवी

विश्वभारती पत्रिका

चैत्र-ज्येष्ठ २०२४ | खण्ड ८, अंक १ | अप्रैल-जून १९६७

अरूप रतन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रूप-सागरे डुब दियेछि
  अरूप रतन आशा करि ;
घाटे घाटे घुरबो ना आर
  भासिये आमार जीर्ण तरी।
समय जेनो हय रे एबार
  ढेउ-खावा सब चुकिये देबार,
सुधाय एबार तलिये गिये
  अमर ह'ये रबो मरि।

जे गान काने जाय ना शोना
  से गान जेथाय नित्य बाजे,
प्राणेर वीणा निये जाबो
  सेइ अतलेर सभा-माझे।
    चिरदिनेर सुरटि बेंधे
    शेष गाने तार कान्ना केंदे
    नीरव जिनि ताँहार पाये
      नीरव वीणा दिबो धरि।

शान्तिनिकेतन
१२ पौष १३१६ (१९०८ ई०)

[पूर्व पृष्ठ पर उद्धृत कविता की हिन्दी छाया]

रूप-सागर में डुबकी लगाई है
अरूप रतन की आशा करके,
अब घाट घाट नहीं घूमूँगा
अपनी जीर्ण तरी को खेते हुए।
इस बार लगता है समय आ रहा है
लहरों के थपेड़े खाने की समाप्ति का,
इस बार अमृत में डूब कर
मरकर के अमर हो जाऊँगा।

जो गान कानों से नहीं सुनाई पड़ता
वह गान जहाँ नित्य चलता रहता है
प्राणों की वीणा लिए जाऊँगा
उस अतल की भरी सभा में
चिरकाल के सुर को मिलाकर
(अपने प्राणों के) रुदन को अन्तिम गान में सुनाऊँगा।
जो नीरव हैं उनके चरणों में
नीरव वीणा धर दूँगा।

प्राचीन जैन-साहित्य में आयुर्वेद

और भगवान् महावीर का गर्भापहरण

जगदीशचन्द्र जैन

आयुर्वेद विद्या का महत्व

आयुर्वेद का अर्थ है आयु को जानने वाला शास्त्र, अर्थात् जिस शास्त्र में आयु के सम्बन्ध में विचार किया जाता हो अथवा जिस शास्त्र के द्वारा दीर्घ आयु की प्राप्ति होती हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं (आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः)। इससे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत के आर्य जीवित रहने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। 'तू सौ शरद् ऋतुओं तक जीवित रह' (त्वं जीव शरदः शतम्)—ऋग्वेद का यह वाक्य, तथा दीर्घ-जीवन की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला आयुष्टोम यज्ञ इस कथन के साक्षी हैं।

वेदों की संख्या चार है—ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद। इन चार वेदों के चार उपवेद हैं—ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद (व्यास के चरणव्यूह और शंकर के आयुर्वेद के मतानुसार, जबकि सुश्रुतसंहिता और हस्त्यायुर्वेद में उसे अथर्ववेद का उपवेद कहा है), यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद गांधर्ववेद और अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्यशास्त्रवेद बताया गया है। सुश्रुतसंहिता के आयुर्वेदोत्पत्ति अध्याय में आयुर्वेद के लिए केवल वेद शब्द का प्रयोग करते हुए उसे अनादि और शाश्वत कहा है। कहते हैं कि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मदेव आयुर्वेद का प्ररूपण करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व उनके द्वारा १ हजार अध्यायों में १ लाख श्लोकों में आयुर्वेद की रचना की गई बतायी जाती है, तत्पश्चात् मनुष्यों की स्वल्प बुद्धि के अनुसार उन्होंने इसे आठ भागों में विभक्त किया।

यद्यपि आयुर्वेद को वेद का उपांग माना गया है, लेकिन इस शास्त्र के जीवनोपयोगी होने के कारण वेद की अपेक्षा भी इसका महत्व अधिक बताया गया है। सुश्रुत में कहा है कि वेदों का अध्ययन करने से तो केवल स्वर्ग की प्राप्ति आदि पारलौकिक फल की ही उपलब्धि होती है, जबकि आयुर्वेद के अभ्यास से धन, मान आदि सांसारिक सुख, तथा व्याधि-पीड़ितों को जीवन-दान देने से स्वर्ग प्राप्ति आदि का लाभ भी मिलता है। अष्टांग-संग्रह में इस सम्बन्ध में एक श्लोक है—

> क्वचिद्धर्मः क्वचिन्मित्रं क्वचिदर्थः क्वचिद्यशः।
> कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला॥

—शारीरिक चिकित्सा करने से कहीं धर्म की प्राप्ति होती है, कहीं मित्र की, कहीं धन की और कहीं यश की और कहीं स्वकर्म का अभ्यास होता है, अत: चिकित्सा कभी निष्फल नहीं जाती।

व्याधि से पीड़ित रोगियों के रोग को शान्त करना और स्वास्थ्य की रक्षा करना—यह आयुर्वेद का उद्देश्य है। आयुर्वेद के मुख्य दो सम्प्रदाय हैं—एक कायचिकित्सा और दूसरा शल्य चिकित्सा। दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने अपने विषय के अनेक ग्रंथों का निर्माण किया, लेकिन दुर्भाग्य से इनमें से अधिकांश ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। भगवान् धन्वन्तरि (धन्व शल्यशास्त्र तस्य अतं पारं इयर्ति गच्छतीति) से महर्षि सुश्रुत ने शल्य-प्रधान आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर सुश्रुत संहिता की रचना की थी। शल्य-चिकित्सा को आयुर्वेद का मुख्य अंग बताते हुए सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान में देव और दानवों के युद्ध का उल्लेख किया गया है। कहते हैं कि देव और दानवों के युद्ध में परस्पर के प्रहार से जो योद्धा घायल हुए, उनके घावों की मरहम-पट्टी करने तथा यज्ञ के कटे हुए सिर का संधान करने के कारण शल्य-चिकित्सा को आयुर्वेद का मुख्य अंग मान लिया गया।

जैनों की आयुर्वेद सम्बन्धी मान्यता

जैन-ग्रंथों में आयुर्वेद (चिकित्सा शास्त्र) का महत्व प्रतिपादित किया गया है, लेकिन फिर भी आश्चर्य की बात है कि उसकी गणना पापश्रुतों में की है।[1] निशीथचूर्णी (१५, पृ० ५१२) में धन्वन्तरि का योगी (आगमोक्त विधि से क्रिया करनेवाला, आगमानुसारेण जहुत किरिय करेंतो जोगीव भवति) के रूप में उल्लेख करते हुए कहा है कि अपने विभंगज्ञान द्वारा रोगों का परिचय प्राप्त कर उसने वैद्यक-शास्त्र का निर्माण किया,[2] और इस शास्त्र का अध्ययन करनेवाले महावैद्य कहलाये।

---

१ उत्पात, निमित्त, मन्त्रशास्त्र, आख्यायिका, चिकित्सा, कला, आवरण (वास्तुविद्या), अज्ञान (महाभारत आदि-टीका), मिथ्या प्रवचन (बुद्धशासन आदि-टीका)—ये पापश्रुत हैं, स्थानांग ९६७८।

२ सुश्रुत के अनुसार ब्रह्मा ने दक्षप्रजापति को, दक्षप्रजापति ने अश्विनीकुमारों को, अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को, इन्द्र ने धन्वन्तरि को और धन्वन्तरि ने सुश्रुत को आयुर्वेद की शिक्षा दी।

आयुर्वेद के आठ अंग

सुश्रुत आदि ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति जैनों के स्थानांग सूत्र (८, पृ० ४०४ अ) में आयुर्वेद के निम्नलिखित आठ अंगों का उल्लेख किया गया है—(१) कुमार भिच्च (कौमारभृत्य ; बालकों के पोषण के लिए स्तनपान सम्बन्धी तथा अन्य रोगों की चिकित्सा), (२) सलाग (शालाक्य ; कर्ण, मुख, नासिका आदि शरीर के ऊर्ध्वभाग के रोगों की चिकित्सा), (३) सल्लहत्थ (शाल्यहत्य ; तृण, काष्ठ, पाषाण, रजःकण, लोहा, मिट्टी, अस्थि, नख आदि शल्यों का उद्धरण), (४) कायतिगिच्छा (कायचिकित्सा ; शरीर सम्बन्धी ज्वर, अतिसार, आदि रोगों की चिकित्सा) (५) जंगोली अथवा जंगोल (कौटिल्य अर्थशास्त्र में जांगलि ; सर्प, कीट, लूता आदि तथा विविध प्रकार के मिश्रित विष की चिकित्सा। सुश्रुत में इसे अगदतंत्र कहा है), (६) भूयविज्जा (भूतविद्या ; देव, असुर, गंधर्व, यक्ष, राक्षस आदि से पीड़ित चित्तवालों की शान्ति-कर्म और बलिदान आदि द्वारा चिकित्सा), (७) रसायण (रसायन ; तारुण्य की स्थापना तथा आयु और बुद्धि के बढ़ाने और रोग शान्त करने के लिए चिकित्सा), (८) वाजीकरण (अथवा खारतंत—क्षारतंत्र ; अल्पवीर्य, क्षीणवीर्य और शुष्कवीर्य पुरुषों में वीर्य की पुष्टि, वीर्य का उत्पादन और हर्ष उत्पन्न करने का उपाय)।३

रोग और व्याधि

छेदसूत्रों के टीकाकारों ने रोग और व्यधि में अन्तर बताते हुए अधिक समय तक रहनेवाली अथवा बहुत समय में प्राणों का अपहरण करनेवाली बीमारी को रोग तथा प्राणों का शीघ्र अपहरण करनेवाली बीमारी को व्याधि कहा है (निशीथभाष्य ११, ३६४६-४७)। व्याधि को आतंक भी कहा गया है। सोलह प्रकार के रोग और सोलह प्रकार की व्याधियां बतायी गयी हैं।

---

३. सुश्रुतसंहिता (१,१,७) में शल्यतंत्र, शालाक्यतंत्र, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमार-भृत्य, अगदतंत्र, रसायनतंत्र और वाजीकरणतंत्र—इस क्रम से आठ अंग बताये हैं। इनमें कायचिकित्सा और शल्यतंत्र को छोड़कर अन्य अंगों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। धन्वन्तरि के समय से ही कायचिकित्सा को छोड़कर अन्य सम्प्रदाय प्रायः विलुप्त हुए माने जाते हैं।

आचारांग सूत्र (६, १ १७३ तथा टीका) में सोलह रोगों के नाम निम्न प्रकार हैं—(१) गडी (गडमाला , जिसमे गर्दन फूल जाती है), (२) कुष्ठ (कोढ़),४ (३) रायसी (राजयक्ष्मा—क्षय), (४) अवमारिय (अपस्मार), (५) काणिय (अक्षिरोग), (६) झिमिय (जड़ता), (७) कुणिय (हीनांगत्व), (८) खुज्जिय (कुबड़ापन), (९) उदररोग (१०) मूय (गूगापन), (११) सूणीय (शरीर की सूजन), (१२) गिलासणि (भस्मक), (१३) वेवइ

४ कुष्ठ १८ प्रकार का होता है—७ महाकुष्ठ और ११ क्षुद्रकुष्ठ। महाकुष्ठ (अंग्रेजी मे लेप्रसी) को शरीर की समस्त धातुओं में प्रवेश करने के कारण असाध्य कहा है। महाकुष्ठ के सात भेद हैं—(१) अरुण (वात के कारण किंचित् रक्तवर्ण, क्षुद्र आकार का, फैलनेवाला, पीडा देनेवाला फटनेवाला और स्पर्श की चेतना से शून्य), (२) औदुंवर (पित्त के कारण पके गूलर के समान आकृति और वर्णवाला), (३) निश्य (यह अशुद्ध जान पड़ता है। सुश्रुत में इसे ऋष्यजिह्व कहा है, अर्थात् ऋष्य नामक हरिण की जीभ के समान खुरदरा), (४) कपाल (काले ठीकरे के समान प्रतीत होनेवाला), (५) काकनाद (सुश्रुत मे काकणक , गुंजाफल के समान अत्यन्त रक्त और कृष्णवर्णवाला), (६) पौण्डरीक (सुश्रुत में पुंडरीक , कफ के कारण श्वेत कमलपत्र के समान वर्णवाला काश्यप संहिता में पौण्डरीक), (७) दद्रु (दाद , अतसी के पुष्प के समान नीलवर्ण अथवा ताम्रवर्णवाला, फैलनेवाला , इसमें छोटी-छोटी फुंसिया उठ जाती है। ११ क्षुद्रकुष्ठों के नाम हैं—(१) स्थूलारुष्क (इसके कारण संधियो मे अत्यंत दारुण स्थूल और कठिन गूमड़े हो जाते हैं), (२) महाकुष्ठ (त्वचा मे सिकुड़न और दरार पड़ जाती है और वह सुन्न हो जाती है), (३) एककुष्ठ (शरीर काला-स्याह और लाल हो जाता है), (४) चर्मदल (जिसमें हाथ-पैर के तलुओं में खाज, पीडा, जलन और सूजन हो जाय), (५) परिसर्प (जिसमें स्रवण करनेवाली फुंसिया शरीर में धीरे-धीरे फैलती हों), (६) विसर्प (जिसमें रक्त और मांस को दूषित कर, मूर्च्छा, जलन, अरति और पीड़ा उत्पन्न करके त्वचा पक कर शीघ्र ही चारों और फैल जावे), (७) सिध्म (इसमें खाज आती है, यह श्वेत होता है, इसमे कष्ट नहीं होता, यह क्षुद्र आकार का होता है, और प्राय शरीर के ऊर्ध्वभाग में होता है), (८) विचर्चिका अथवा विपादिका (विचर्चिका मे हाथों और पावों में बहुत खाज आती है, पीड़ा होती है और रूखी-रूखी रेखाए पड जाती है। यही जब पांवों में पहुचकर खाज, जलन और वेदना पैदा कर देता है तो इसे विपादिका (बिवाई) कहा जाता है), (९) किटिम (यह बहता रहता है, गोलाकार और घन होता है , इसमे बहुत खाज आती है, यह चिकना और कृष्णवर्ण का होता है), (१०) पामा (यह बहता रहता है, इसमें खाज और जलन होने से छोटीछोटी फुंसिया हो जाती हैं। अंग्रेजी में एग्जीमा कहते हैं), (११) कच्छू (जब पामा में अत्यन्त जलन होने लगती है तो इसे कच्छू कहते हैं), (१२) शतारुक (सुश्रुत में रकसा , जिसमें खाज आती हो और फुंसिया न बहती हों) तथा देखिए सुश्रुत, निदानस्थान, अध्याय ५।

(कंपन), (१४) पीढसप्पि (पंगुत्व) (१५) सिलीवय (श्लीपद्—फीलपांव), और (१६) मधुमेह।५ विपाकसूत्र में सोलह व्याधियों के नाम निम्नलिखित हैं—(१) श्वास, (२) कास (खांसी), (३) ज्वर, (४) दाह (५) कुक्षिशूल (६) भगंदर (७) अर्श (बवासीर) (८) अजीर्ण (९) दृष्टिशूल (१०) मूर्धशूल (११) अरोचक (भोजन में अरुचि) (१२) अक्षिवेदना (१३) कर्ण वेदना (१४) कण्डू [खुजली] [१५] जलोदर [१६] कुष्ठ।६ अन्य रोगों में दुब्भूय [दुर्भूत —ईति, टिड्डीदल का उपद्रव], कुलरोग, ग्रामरोग, नगररोग, मंडलरोग, शीर्षवेदना, ओष्ठवेदना, नखवेदना, दंतवेदना, कच्छु, खसर [खसरा], पांडुरोग, एक-दो-तीन-चारदिन के अन्तर से आनेवाला ज्वर, इन्द्रग्रह, धनुर्ग्रह [वायु के शूल, उदरशूल, योनिशूल, महामारी, वल्गुली [जी मचलाना] और विषकुम्भ [फुडिया] आदि का उल्लेख मिलता है।७

रोगों की उत्पत्ति

वैद्यकशास्त्र में वात, पित्त और कफ को समस्त रोगों का मूल कारण बताया गया है। स्थानांग सूत्र (९.६६७) में रोगोत्पत्ति के नौ कारण कहे गए हैं—(१) आवश्यकता से अधिक भोजन करना, (२) अहितकर भोजन करना, (३) आवश्यकता से अधिक सोना, (४) आवश्यकता से अधिक जागरण करना, (५) पुरीष का निरोध करना, (६) मूत्र का निरोध करना (७) रास्ता चलना, (८) भोजन की प्रतिकूलता और कामविकार। पुरीष के रोकने से मरण, मूत्र के रोकने से दृष्टि की हानि और वमन के रोकने से कोढ़ का होना बताया गया है। (बृहत्कल्पभाष्य ३.४३८०)

---

५. तथा, देखिए विपाकसूत्र १, पृ० ७ ; निशीथभाष्य ११। ३६४६ ; उत्तराध्ययनसूत्र १०.२७।

६. निशीथभाष्य ११.३६४७ में निम्नलिखित आठ व्याधियां बतायी गयी हैं—ज्वर, श्वास, कास, दाह, अतिसार, भगंदर, शूल, अजीर्ण। तथा देखिए ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४४ (वैद्य संस्करण)।

७. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति २४, पृ० १२० ; जीवाभिगम ३, पृ० १५३ ; व्याख्याप्रज्ञप्ति ३, ६।

जैन श्रमणों को रोगजन्य संकट

जैन श्रमण संयम का पालन करने के लिए दृढ़तापूर्वक आहार-विहार सम्बन्धी व्रत नियमों का आचरण करते थे। जैसे गंगा के उल्टे स्रोत को पार करना, समुद्र को भुजाओं से तिरना, बालू के ग्रास को भक्षण करना, असि की धार पर चलना, लोहे के चने चबाना, प्रज्वलित अग्नि की शिखा पकड़ना और मंदार पर्वत को तराजू पर तोलना कठिन है, वैसे ही श्रमण-धर्म के आचरण को महादुष्कर बताया गया है। फिर भी शरीर में उत्पन्न होनेवाली व्याधियों को कैसे रोका जा सकता था? सामान्यतया व्याधिग्रस्त हो जाने पर जैन साधु को चिकित्सा कराने और औषधि-सेवन करने का निषेध है, और जैसे भी हो सर्वत्र संयम की प्रतिष्ठा का ही उपदेश दिया गया है। लेकिन कितने ही प्रसंग ऐसे उपस्थित होते जबकि संयम की अपेक्षा अपनी रक्षा करना अधिक आवश्यक हो जाता (सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खंतो निशीथचूर्णी, पीठिका ४५१)। बृहत्कल्पभाष्य की वृत्ति [१२९००] में कहा है—

> शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः ।
> शरीरात्स्रवते धर्मः पर्वतात् सलिलं यथा ॥

अर्थात् जैसे पर्वत से जल प्रवाहित होता है, वैसे ही शरीर से धर्म प्रवाहित होता है, अतएव धर्मयुक्त शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।

व्याधियों का उपचार

कहना न होगा कि किसी असाधारण रोग या व्याधि से पीड़ित होने पर साधुओं को चिकित्सा कराने के लिए बाध्य होना पड़ता था। उदाहरण के लिए, कोढ़ हो जाने पर जैन श्रमणों को दारुण कष्ट का सामना करना पड़ता। यदि उन्हें गला हुआ कोढ़ हो जाता, उनके खुजली [कच्छू] हो जाती, उनके कोढ़ में खाज [किटिभ] आने लगती, या जूएं पैदा हो जातीं तो उन्हें निर्लोम चर्म पर लिटाया जाता [बृहत्कल्पभाष्य ३.३८३९-४०]। यदि वे एक्जीमा [पामा] से पीड़ित रहते तो उसे शान्त करने के लिए मेंढे की पुरीष और गोमूत्र काम में लिया जाता [ओघनिर्युक्ति ३६८, पृ० १३४-अ]। यदि उनके कोढ़ में कीड़े [कृमिकुष्ठ] पड़ जाते तो उन्हें और भी भयंकर कष्ट होता। एक बार किसी साधु के

कृमिकुष्ठ द्वारा पीड़ित होने पर वैद्य ने तेल, कंबलरत्न और गोर्शीर्ष चन्दन [एक प्रकार का सफेद चन्दन] का उपचार बताया। लेकिन ये तीनों वस्तुएं मिलें कहां से ? अन्त में किसी वणिक् ने बिना मोल के ही कंबल और चंदन दे दिये। साधु के शरीर में शतसहस्र तेल८ [शतसहस्र औषधियों को पकाकर बनाया हुआ तेल] की मालिश की गयी जिससे तेल रोम-कूपों में भर गया। परिणाम यह हुआ कि कुष्ठ के कृमि संक्षुब्ध होकर झड़ने लगे। ऊपर से साधु को कंबल उढ़ा दिया गया, जिससे सब कृमि कंबल पर लग गये। बाद में गोशीर्ष चन्दन का लेप करने से रोगी का कोढ़ शान्त हो गया।९

सर्पदष्ट भी इसी प्रकार की एक घातक बीमारी समझी जाती थी। उन दिनों सर्पों का बहुत उपद्रव था, इसलिए यदि कभी किसी साधु को सांप काट लेता, उसे हैजा [विसूचिका] हो जाता या वह ज्वर से पीड़ित होता तो उसके लिए साध्वी के मूत्रपान का विधान है।९ सर्पदंश पर मंत्र पढ़कर अष्टधातु के बने हुए बाले (कटक) बांध दिये जाते या मुंह में मिट्टी भरकर सर्प के डंक को चूस लिया जाता, या दंश के चारों ओर मिट्टी का लेप कर देते, नहीं तो रोगी को मिट्टी का भक्षण कराया जाता जिससे कि खाली पेट में विष का असर न हो।१० कभी सर्प के दष्ट स्थान को आग से दाग देते, या उस स्थान को काट देते, या रोगी को रात-भर जगाये रखते।१२ बमी की मिट्टी, लवण और सेचन आदि को भी सर्पदंश में

---

८. अन्य तेलों में शतपाक तेल, हंसतेल, मरुतेल और कल्याणघृत का उल्लेख मिलता है, जगदीशचन्द्र जैन : "जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज", पृ० ३१६ ; अंगविज्जा, अध्याय ५०।

९. आवश्यक चूर्णी, पृ० १३३।

१०. बृहत्कल्पसूत्र ५.३७, तथा भाष्य ५.५९८७-८८ ; विनयपिटक के भैषज्यस्कंध में भी मूत्रपान का विधान है। तथा औषधि के रूप में मूत्रग्रहण के लिए देखिए सुश्रुत, सूत्रस्थान ४५.२१७-२२९। इस संबंध में आधुनिक जानकारी के लिये देखिये रावजी मणिभाई पटेल की 'मानवसूत्र'। इसका हिन्दी अनुवाद भी हंसराज 'हंस' द्वारा 'आरोग्य का अमूल्य साधन स्वमूत्र' नामसे भारत सेवक समाज प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुआ है।

११. निशीथभाष्य पीठिका १७०। सर्पदंश की चिकित्सा के लिए देखिए महावग्ग ६.२.९, पृ० २२४ (भिक्षु जगदीश काश्यप का संस्करण)।

१२. निशीथभाष्य पीठिका २३०।

उपयोगी बनाया गया है।१३ सर्प का जहर शान्त करने के लिए रोगी को सुवर्ण घिसकर भी पिलाया जाता था।१४

भूत आदि द्वारा क्षिप्तचित्त हो जाने के कारण साधुओं की चिकित्सा करने में बडी कठिनाई होती थी। ऐसी अवस्था मे उन्हे कोमल बन्धन से बांधकर रक्खा जाता, और कितनी ही बार स्थान के अभाव मे उन्हे कुए के अन्दर रखवा दिया जाता।१५ साध्वी के यक्षाविष्ट हो जाने पर भूतचिकित्सा का विधान किया गया है।१६ यदि किसी साध्वी को ऊर्ध्ववात चलता हो, बवासीर हो गयी हो, शूल उठा करता हो, उसके हाथ-पाव अपने स्थान से चल गये हों, शरीर के किसी एक अथवा सर्व अग में वात उत्पन्न हुआ हो तो उसे अभ्यगित करके निर्लोम चर्म में रखने का विधान है। इसी प्रकार यदि उसे हड़काया कुत्ता काट ले तो चर्म से वेष्टित करके उसे व्याघ्र के चर्म में सुलाने का आदेश है।१७

वैद्यकशास्त्र के पडित

निशीथ चूर्णी (४१७५७) में वैद्यकशास्त्र के पडितों को दृष्टपाठी १८ कहा गया है। जैन-ग्रथो में अनेक वैद्य (शास्त्र और चिकित्सा दोनों में कुशल), वैद्यपुत्र, ज्ञायक (केवल शास्त्र मे कुशल) ज्ञायकपुत्र, चिकित्सक (केवल चिकित्सा मे कुशल) और चिकित्सकपुत्रों का उल्लेख मिलता है।१९ वैद्य-लोग अपने शस्त्रकोश२० लेकर घर से निकलते तथा रोग का

---

१३ वही, ३९४।

१४ व्यवहारभाष्य ५८९।

१५ वही, २१२२-२५।

१६ बृहत्कल्पभाष्य ६६२६२, तथा चरकसहिता शारीरस्थान २, अध्याय ९, पृ० १०८८

१७ बृहत्कल्पभाष्य ३३८१५-७७। चर्म के उपयोग के लिए देखिए—सुश्रुत, सूत्रस्थान ७४, पृ० ४२।

१८ ओघनिर्युक्तिभाष्य की टीका [पृ० ४१-अ] में चरक-सुश्रुत आदि के पडित को दृष्टपाठी कहा है।

१९ सुश्रुत [१४४७-५०] में केवल शास्त्र में कुशल, केवल चिकित्सा में कुशल तथा शास्त्र और चिकित्सा दोनों में कुशल वैद्यों का उल्लेख है।

२० निशीथचूर्णी [११३४३६] मे प्रतक्षण शस्त्र [सर्पदष्ट के समय ऊपर से थोडी-सी त्वचा काटने के लिए], अगुलीशस्त्र [नखभग की रक्षार्थ'], शिरावेधशस्त्र [नाडी वेधकर रक्त निकालने के लिए], कल्पनशस्त्र, लोहकटिका, सडसी, अनुवेधशलाका, व्रीहिमुख और सूचीमुख नामक शस्त्रों का उल्लेख किया गया है।

निदान जानकर अभ्यंग, उबटन, स्नेहपान, वमन, विरेचन, बस्तिकर्म, शिरावेध, शिरोबस्ति, पुटपाक, छाल, वल्ली, मूल, कंद पत्र, पुष्प, गुटिका, औषध और भैषज्य आदि द्वारा राजा, ईश्वर, सार्थवाह, अनाथ, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुक आदि की चिकित्सा करते थे।२१ चिकित्सा-शालाओं (अस्पताल) का उल्लेख मिलता है, जहां वेतन पानेवाले अनेक वैद्य काम करते थे।२२

वैद्य-लोग चीरफाड़ भी करते थे। जैनसूत्रों में दो प्रकार के व्रण२३ बताये गये हैं—तद्भव और आगन्तुक। कुष्ठ, किटिभ, दद्, विचर्चिका, पामा और गंडालिया [पेट के कृमि] ये तद्भव व्रण हैं, तथा जो व्रण खड्ग, कंटक, ठूठ, शिरोवेध, सर्प अथवा कुत्ते के काटने से पैदा हो उसे आगन्तुक व्रण कहा गया है।२४ वैद्य व्रणों को पानी से धोकर उनपर तेल, घी, चर्बी और मक्खन आदि चुपड़ते और गाय, भैंस आदि का गोबर लगाते।२५ गंडमाला अर्श और भगंदर आदि रोगों पर शस्त्रक्रिया की जाती थी।२६

इसके सिवाय, वैद्य-लोग युद्ध आदि में घाव लग जाने पर मरहम पट्टी करते थे। युद्ध के समय वे औषध, व्रणपट्ट, मालिश का सामान, व्रण-संरोहक तेल, व्रणसंरोहक चूर्ण, बहुत पुराना घी आदि साथ में लेकर युद्ध-स्थल पर पहुंचते और आवश्यकता पड़ने पर घावों को सींते।२७

जैन-साधुओं की चिकित्सा

व्याधि से ग्रस्त होने पर जैन साधुओं को अपनी चिकित्सा के लिए दूसरों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। यदि कोई साधु चिकित्सा में कुशल हुआ तो ठीक, नहीं तो रोगी को कुशल वैद्य को दिखाना पड़ता था। ऐसी हालत में यदि ग्लान साधु को वैद्य के घर ले जाना पड़ता

---

२१. विपाकसूत्र ७, पृ० ४१।

२२. निशीथभाष्य ३,१५०१।

२३. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४३।

२४. व्रणोति यस्मात् रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति।
आदेहधारणात्तस्माद्व्रण इत्युच्यते बुधैः॥ सुश्रुत, सूत्रस्थान २१,३९।

२५. निशीथसूत्र ३,२२-२४, १२,३२ ; निशीथभाष्य १२,४१९९।

२६. निशीथसूत्र ३,३४।

२७. व्यवहारभाष्य ५,१००-१०३।

और मार्गजन्य आतापना आदि के कारण उसका प्राणान्त हो जाता तो वैद्य रोगी को वहां लाने वाले साधुओं को आक्रोशपूर्ण वचन कहता। ऐसी हालत में सगुन विचार कर ही वैद्य के घर रोगी को ले जाने या उसे बुलाकर लाने का आदेश है। यदि वैद्य एक धोती पहने हो, तेल का मालिश करा रहा हो, उबटन लगवा रहा हो, राख के ढेर या कूड़े के पास खड़ा हो, चीर फाड कर रहा हो, घट या तुम्बी को फाड़ रहा हो या वह शिराभेद कर रहा हो तो उस समय उससे कुछ नहीं पूछना चाहिए।२८ कितने ही प्रसग ऐसे उपस्थित होते जब रोगी के अत्यधिक रुग्ण होने पर वैद्य को साधुओं के उपाश्रय में बुलाकर लाया जाता। उस समय आचार्य स्वय उठकर वैद्य को रोगी को दिखाते और आवश्यकता पड़ने पर साधुओं को उसके स्नान, शयन, वस्त्र, भोजन, तथा दक्षिणा आदि की व्यवस्था करनी पड़ती।२९

हरिणेगमेषी द्वारा महावीर के गर्भ का अपहरण

जैनसूत्रों में हरिणेगमेषी को इन्द्र की सेना के सेनापति (पायत्ताणीयाहिवइ) के रूप में चित्रित किया है।३० कहते हैं कि इन्द्र के आदेश से हरिणेगमेषी ने अवस्वापिनी विद्या के बल से ब्राह्मण कुण्डग्राम की देवदत्ता नामक ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित महावीर का अपहरण करके उन्हें क्षत्रिय कुण्डग्राम की त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में अवतरित कर दिया। गर्भ हरण की इस घटना का निर्देश आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध, तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति (५३) में उपलब्ध होता है।३१

---

२८ तुलना कीजिए सुश्रुत, सूत्रस्थान २९, अध्याय के साथ। यहां वैद्य के पास जाने वाले दूत का दर्शन, सम्भाषण, वेष, चेष्टा, तथा नक्षत्र, बेला, तिथि, निमित्त, शकुन, वायु, वैद्य का देश तथा उसकी शारीरिक, मानसिक और वाचिक चेष्टाओं का प्रतिपादन किया गया है।

२९ बृहत्कल्पभाष्य १९९१०-२०१३, व्यवहारभाष्य ५८९-९०, निशीथसूत्र १०३६-३९, भाष्य २९६६-३१२२।

३० कल्पसूत्र २२६। विद्या और मन्त्र में अन्तर बताते हुए विद्या को स्त्री-देवता और मन्त्र को हरिणेगमेषी आदि पुरुष देवताओं द्वारा अधिष्ठित कहा गया है, बृहत्कल्पभाष्य १९२३५।

३१ अतगड सूत्र [३, पृ० १२] में हरिणेगमेषी का उल्लेख भद्दिलपुर के नाग-गृहपति की पत्नी सुलसा और कृष्ण की माता देवकी का परस्पर गर्भ-परिवर्तन करने वाले के रूप में आया है। आगे चलकर कृष्ण ने हरिणेगमेषी की उपासना द्वारा अपने लघुभ्राता के रूप में गजसुकुमाल को प्राप्त किया।

महावीर के गर्भहरण की घटना यद्यपि आचारांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे प्राचीन सूत्रों में मिलती है, फिर भी लगता है कि यह घटना पूरी तौर से लोगों के मन में आस्था न पैदाकर सकी। स्थानांग [१०] सूत्र में गर्भ-हरण की घटना का दस आश्चर्यों में गिना जाना क्या इस तथ्य की ओर इंगित करता हुआ नहीं माना जा सकता ?

तीर्थंकर नीच-कुलों में जन्म नहीं लेते

गर्भ-हरण की घटना सम्भवतः जब सर्वसाधारण के बुद्धिग्राह्य न हुई तो एक और कल्पना की गयी। इस बात को डंके की चोट से कहा जाने लगा कि अरहंत, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव कभी तुच्छ, दरिद्र, कृपण, भिक्षु और ब्राह्मण कुलों में जन्म धारण नहीं करते।३२ अवश्य ही यह कल्पना पहले की अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धिसंगत जान पड़ती थी, लेकिन फिर भी गर्भ-हरण की गुत्थी ज्यों-की-त्यों बनी रही।

गर्भ-संक्रमण की अन्य सम्भावनाएं

गर्भ-संक्रमण जैसे अशक्य कार्य को देव के हस्तक्षेप द्वारा शक्य बनाने की कल्पना को शास्त्र में क्यों स्थान दिया गया ? इसकी ऊहापोह करते हुए पंडित सुखलालजी संघवी ने इस प्रश्न का समाधान दो रूपों में प्रस्तुत किया है—[१] त्रिशला सिद्धार्थ की अन्यतम पत्नी रही होगी जिसका अपना कोई औरस पुत्र नहीं था। स्त्री-सुलभ पुत्रवासना की पूर्ति के लिए उसने देवानन्दा के पुत्र को अपना पुत्र बनाकर रखा होगा, [२] महावीर यद्यपि बाल्य अवस्था से हिंसक-यज्ञ और क्रिया काण्ड-प्रधान ब्राह्मण परम्परा में पले थे, लेकिन किसी निर्ग्रन्थ भिक्षु के सम्पर्क में आने के कारण उनकी त्याग-वृत्ति बलवती हो उठी होगी [चार तीर्थंकर पृ० ११०-११]।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्पष्टीकरण बहुत यथार्थ नहीं लगता। डाक्टर ए० के० कुमारस्वामी ने अपनी 'स्पिरिच्युअल आथोरिटी एण्ड टैम्पोरेल पावर' [पृ० ३२ का २४ वां फुटनोट] नामक पुस्तक में इस विषय की भिन्न प्रकार से ही समीक्षा

---

३२. कल्पसूत्र २.२२ ; आवश्यक चूर्णी पृ० २३९। बौद्धों की निदान कथा १, पृ० ६५ में कहा है कि बुद्ध क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण नाम की ऊंची जातियों में ही जन्म लेते हैं नीची जातियों में नहीं।

की है। उनका मत है कि ऋग्वेद में उल्लिखित यम और यमी को भाई-बहन न समझकर उन्हें आकाश और पृथ्वी अथवा दिन और रात्रि का ही प्रतीक समझना चाहिए। इसी तरह डाक्टर साहब का कथन है कि सौर मंडल के जिन वीर पुरुषों का जन्म द्विमाताओं से स्वीकार किया गया है, उनके जन्म को वास्तव में दिव्य मानव जन्म समझना चाहिए, जिसकी भविष्य-वाणी पहले से ही अनेक रूपों में की जा चुकी है। लेखक ने यहां हैरेक्लीज, अग्नि, बुद्ध, महावीर और ईसामसीह के उदाहरण प्रस्तुत कर अपने कथन का समर्थन किया है। गर्भ संक्रमण का यह स्पष्टीकरण आध्यात्मिक ही अधिक लगता है, यथार्थता का अंश इसमें भी कम है।

नैगमेपापहृत एक रोग

यह ठीक-ठीक कहना तो कठिन है कि हरिणेगमेषी द्वारा महावीर का गर्भ अपहृत किये जाने की बात जैनसूत्रों में कब से रूढ़ हो गयी, लेकिन वैद्यकशास्त्र से पता चलता है कि नैगमेपापहृत एक प्रकार का लीन गर्भ है, जिसे उपशुष्कक अथवा नागोदर भी कहा गया है। कभी स्रोतों के, वात उपद्रव से पीडित होने के कारण गर्भ सूख जाता है, माता की कुक्षि में वह पूर्णतया व्याप्त नहीं होता और उसकी हलचल मन्द पड जाती है। इससे कुक्षि की जितनी वृद्धि होनी चाहिए उतनी नहीं हो पाती। इस गर्भ के कदाचित् अचानक शान्त हो जाने पर इसे नैगमेपापहृत कहा गया है। वस्तुत जातविकृति का ही यह परिणाम है, लेकिन भूत-पिशाच मे विश्वास करनेवाले इसे नैगमेपापहृत कहने लगे। गर्भ के सूख जाने के कारण इसे उपशुष्कक, और कदाचित् शनै शनै लीन हो जाने के कारण इसे नागोदर कहा है। इस रोग के निवारण के लिए स्त्री की मृदु स्नेह आदि से चिकित्सा करने का विधान है (देखिए, सुश्रुत, शारीरस्थान, १०६१)।

अतएव प्रस्तुत प्रसग में हरिणेगमेषी द्वारा गर्भ अपहृत किये जाने का यही अर्थ युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि नैगमेपापहृत रोग से ग्रस्त होने के कारण देवानदा ब्राह्मणी का गर्भ अचानक शान्त हो गया, और गर्भावस्था को प्राप्त त्रिशला क्षत्रियाणी ने नौ महीने पश्चात सन्तान को प्रसव किया। इस समय से देवानन्दा के गर्भहरण की किंवदन्ती लोक में प्रसिद्ध हो गयी और बाद में चलकर इस किंवदन्ती को बुद्धिसगत बनाने के लिए इसके साथ ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रिय जाति की श्रेष्ठता की मान्यता जोड दी गयी।

संस्कृत काव्य परम्परा में वार्ता काव्य

जयशङ्कर त्रिपाठी

संस्कृत काव्य-परम्परा के विकास काल में जब उसमें महाकाव्य के स्वरूप का उदय हो रहा था, वार्ता-काव्य की एक विधा लोक-कवियों में आदृत थी। इसके इतिहास का चित्र दण्डी के 'काव्यादर्श' और भामह के 'काव्यालंकार' में मिलता है, इन दोनों आचार्यों का समय चौथी से छठी शती ईस्वी के मध्य है। उस वार्ता-काव्य का ही परिष्कृत रूप कालिदास के मेघदूत में प्रयुक्त हुआ है। बाद में लोक-कवियों की इस पद्धति को संस्कृत की शास्त्रीय-काव्य परम्परा में निष्णात कवियों ने प्रयोग करना छोड़ दिया।

सर्गबन्ध महाकाव्यों में जैसे मुक्तक, कुलक, कोष सौर संघात काव्य प्रकारों का प्रयोग हुआ करता था[1], वैसे ही वार्ता-काव्य की विधा का भी। इसका स्वस्थ उदाहरण कालिदास के महाकाव्यों में मिल जाता है। महाकाव्य में वार्ता-काव्य को विधा के प्रयोग का अवसर कहाँ आता रहा होगा, इसका स्पष्टीकरण दण्डी के कान्ति-गुण के लक्षण से होना है, दण्डी कहते हैं कि 'लोक-प्रसिद्धि को न त्याग कर वस्तु-वर्णन को प्रस्तुत करनेवाला वाक्य, जो अपने इस स्वरूप के कारण साधारण से लेकर विदग्धजनों तक को कमनीय होता है, कान्ति गुण है, और उसकी स्थिति वार्ता के कथन एवं वस्तु के स्वरूप निरूपण (वर्णना) में होती है।[2]' दण्डी की इस वार्ता का क्या अर्थ है, आज के उनके टीकाकारों ने अपनी व्याख्या में उसके तीन अर्थ किये हैं—(१) लौकिक उपचारवचन (२) स्वस्थ प्रियालाप (३) इतिहास वर्णन, इतिहास अर्थात् यथावद्वर्णन। परन्तु दण्डी का 'वार्ता' शब्द एक रूढ़ि संज्ञा है, यह बात दूसरी है कि उसके अर्थ का सामञ्जस्य उक्त व्याख्या से भी मेल रखे। इसका समर्थन तब हो जाता है जब भामह भी एक संज्ञा विशेष के रूप में 'वार्ता' का प्रयोग करते हैं।

---

१. काव्यादर्श १ । १३

मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः॥

२. काव्यादर्श १ । ८५

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते॥

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में ज्ञापक हेतु अलंकार का एक उदाहरण दिया था—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण ।

इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदिने ॥३

भामह ने इस उदाहरण का इस अलंकार अथवा काव्य के रूप में विरोध किया और इसको केवल वार्ता कहा है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण ।

इत्येवमादि किं काव्य वार्तामेनां प्रचक्षते ॥४

इस कारिका में 'इत्येवमादि' से भामह का संकेत हेतु अलंकार के ज्ञाप्य अभाव आदि अन्य प्रकारों की ओर भी है जिनका विस्तार से निदर्शन दण्डी के 'काव्यादर्श' में हुआ है, जो एक ओर दण्डी के कान्तिगुण की सीमा में है और दूसरी ओर हेतु अलंकार है।५

वार्ता-काव्य के मूल की खोज पहले भामह के इस निर्देश को लेकर की जानी है। उक्त उदाहरण को भामह ने अलंकार न स्वीकार कर केवल वार्ता कहा है, वार्ता कहने से उनका लक्ष्य सामान्य लौकिक वचन से है। अर्थात् कथन की ऐसी विधा जिसका लोक में साधारणतया सभी प्रयोग करते हैं जिसमें वक्रोक्ति दृष्टिगत नहीं होती और उसको अलंकार की कोटि में नहीं रखा जा सकता, उसे वार्ता अर्थात् लोक-प्रयुक्त वचन से अधिक गौरव देना उचित नहीं है। ऊपर के उदाहरण में 'सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा चमकने लगा, पक्षी अपने घोंसलों की ओर जा रहे हैं।' यह कथन सायंकाल होने की सूचना देता है। लोक-वचन का यह ढंग भामह की दृष्टि में वाक्य की साधारण प्रस्तुति है, जो अलंकार-विधान के सर्वस्व वक्रोक्ति—प्रकार से शून्य है।६ इतना तो निश्चित है कि उक्त उदाहरण अलंकार अथवा काव्य के रूप में अभिमत था, इसीलिए भामह को उसका प्रत्याख्यान करना पड़ा है। भामह विदग्ध-गोष्ठी के अलङ्कार-सम्मत काव्य का निरूपण कर रहे हैं और यह अथवा इसी प्रकार के दूसरे

३ काव्यादर्श २। २४४

४ काव्यालंकार (भामह) २। ८७

५ दे० काव्यादर्श २। [illegible], २४

६ काव्यालंकार (भामह) २। ८६

हेतुश्च सूक्ष्मलेशोऽथ नाल[illegible]रतया मत ।

समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यना[illegible]भिधानत ॥

उदाहरण लोक गोष्ठी के अभिमत काव्य थे। लोकगोष्ठी का काव्य अपनी विशेषता सूक्ति या स्वभावोक्ति में ही प्रकट करता था। भामह वक्रोक्ति में ही अलंकार का अस्तित्व मानते थे।७ उनको स्वभावोक्ति अलंकार रूप से भी ग्राह्य नहीं था।८ भामह की वक्रोक्ति का अर्थ वचन-वक्रता से था, परन्तु लोकगोष्ठो के उक्त 'वार्ता' जैसे काव्यों में भी वक्रता होती थी। हाँ, वह वक्रता वचन की न होकर वस्तु की वक्रता होती थी। भामह की दृष्टि शास्त्रीय विधान की ओर अधिक उन्मुख है, वे लोक की वचन-भंगि (वस्तु-वक्रता) से या तो अपरिचित हैं या उसकी उपेक्षा करना चाहते हैं। 'गतोऽस्तमर्कः' का उक्त उदाहरण वाणी भंगिमा से युक्त वस्तु-वक्रता का काव्य है, यह स्वतःसम्भवोवस्तु व्यंग्य के निकट है। स्वतः-सम्भवीवस्तु-व्यंग्य लोक के सूक्ति-काव्यों की प्रकृति है। ये सामान्य लोकोपचार वचन अनेक व्यंग्य अर्थों की अभिव्यक्ति कैसे करते हैं, यह तथ्य काव्यप्रकाशकार के 'गतोऽस्तमर्कः' को लेकर किये गये व्यंग्य-व्याख्यान से पता चलता है। 'सूर्य डूब गया'—वाक्य एक साथ 'शत्रु को आक्रान्त कर लेने का समय है, 'तू अभिसरण के लिए तैयार हो जा', 'तुम्हारा प्रिय आ ही पहुँचता है', 'गायों को बाड़े में करो', 'दूकान को बटोर कर रखो'—आदि अनेक अर्थ विभिन्न वक्ता और वोद्धा की स्थिति के अनुसार अभिव्यक्त करता है।९ यह 'गतोऽस्तमर्कः' दण्डी और भामह के उक्त श्लोकार्ध का ही एक अंश है, जिसको काव्य-विधा को लेकर दोनों ने परस्पर विभिन्न धारणाएं व्यक्त की हैं। ऊपर के उदाहरण को भामह ने वार्ता कह कर अलंकार की श्रेणी से अलग कर दिया है। अलंकार न होने पर उसका काव्यत्व भी उपेक्षित है, क्योंकि भामह को 'शब्दाभिधेयालंकार भेद' से काव्य की दो मान्यताएं ही इष्ट थीं।१०

वार्ता-काव्य-विषयक भामह की मान्यता को लेकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोक काव्यों में वचन-वक्रता की योजना कम ही हो पाती थी, काव्य की उस प्रकृति में वस्तु (भाव) —वक्रता अधिक अनुकूल पड़ती थो। बिना पढ़े-लिखे अतएव पद-वाक्य के विन्यास में अज्ञान, किन्तु भाव में बहकर काव्य बनता था। इससे यह भी प्रकट होता है कि ध्वनि

---

७. वही २।८५—सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

८. वही २।९३
स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।

९. काव्यप्रकाश ५। सू० ६९

१०. काव्यालङ्कार (भामह) १।१५

का एक रूप इन वार्ता काव्यों की ही मूलप्रकृति है। ऐसे काव्यों को वचन-वक्रोक्ति से शून्य बता कर भामह ने वार्ता की संज्ञा दी है।

परन्तु भामह ने वार्ता-काव्य के जिस अंश पर अपनी दृष्टि डाली वह वार्ता का समग्र स्वरूप नहीं था। 'वार्ता'-काव्य एक छोटा प्रबन्ध होता था, आज के इतिवृत्त जैसा। 'गतोऽस्तमर्क' तथा अन्य उदाहरण अपने सन्दर्भ में कोई न कोई कथा प्रसंग लिये हुए हैं। दण्डी के कान्ति-ग्रहण की व्याख्या में वार्ताभिधान के दिये गये उदाहरण से भी वार्ता का प्रबन्धत्व प्रकट होता है और यह भी अनुमान है कि दण्डी के युग में 'वार्ताकाव्य' अपने समग्र रूप में आदर पाता रहा होगा। उनके कान्तिगुण के दो ही विषय हैं—वार्ता और वर्णना। वार्ता का उदाहरण है—

> गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः।
> सम्भावयन्ति यान्येव पावनैः पादपांसुभिः ॥११॥

अर्थात् घर वही है जिनको आप जैसे तपोराशि अपनी पवित्र चरण धूलि से कृतार्थ करते हैं। दण्डी के मत में कान्तिगुण की विशेषता—लोकप्रसिद्ध अर्थ का अतिक्रमण न करना वार्ता और वर्णना दोनों के लिए अपेक्षित है, इस एक समानता के रहते हुए भी दोनों में वस्तुगतभेद है। दण्डी वर्णना का उदाहरण देते हैं—

> अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः।
> अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे ॥१२॥

अर्थात् सुन्दरि! बढ़ते हुए तुम्हारे इन दोनों स्तनों के लिए बाहुलता के बीच पर्याप्त स्थान नहीं है। वार्ता होते हुए भी यह एक तरह का प्रणय आलाप (प्रेम-वार्ता) है। हेमचन्द्र ने भी 'काव्यानुशासन' की टीका में शब्द अर्थ के दशगुणों की व्याख्या की है, वहाँ उन्होंने कान्तिगुण का दण्डी-सम्मत स्वरूप ही स्वीकार किया है। उसके वार्ता तथा वर्णना दो प्रकार बताये हैं और उनके जो उदाहरण दिये हैं, वे दण्डी के ही उदाहरणों के तुल्य हैं।१३

इस प्रकार दण्डी के कान्तिगुण के विषय वार्ता और वर्णना थे, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि वार्ता और वर्णना की सीमा क्या थी? दण्डी ने सीमा का स्पष्टीकरण तो नहीं किया है, किन्तु विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए आगे कहा है—'इस प्रकार लोक-व्यवहार में निष्णात

---

११ काव्यादर्श १।८६

१२ काव्यादर्श १।८७

१३, काव्यानुशासन, अध्याय ४—टीका

सर्व साधारण के लिए विशेष कथन से परिष्कृत रचना ही कान्तिगुण है।१४ ऊपर दिये गये उदाहरणों से यह जान पड़ता है कि वार्ता का अर्थ—लोकाचारपूर्ण कथोपकथन था, और वर्णना से प्रणयालाप का तात्पर्य ग्रहण किया गया है। अर्थात् वर्णना प्रथमतः वार्ता में ही अन्तर्भुक्त है, दोनों ही लोकाचारपूर्ण वृत्तान्त के आलाप हैं, वर्णना का वार्ता से भेद यह है कि वह प्रणय को व्यक्त करने का उपक्रम है। अतः वार्ता ही अपने दो रूपों में कान्तिगुण-विशिष्ट काव्य था।

लोक-अर्थ का अनतिक्रमण—यह विशेषता दंडी ने कान्तिगुण की बताई है। वस्तुतः कान्तिगुण की नहीं, यह व्याख्या वार्ता काव्य की है। अमरकोश के शब्दादि वर्ग में वार्ता के पर्याय, प्रवृत्ति, वृत्तान्त (घटना) और उदन्त (कथा) दिये गये हैं।१५ जनश्रुति (लोकवाणी) भी इसका अर्थ है।१६ वार्ता-काव्य वहाँ होता था जहां लोकवाणी की बोध-सीमा में चमत्कारयुक्त कथन किया जाता था, निश्चित है कि ऐसे कथन में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों की योजना अस्वाभाविक है, साधारण जनों के लिए तब उसके अर्थ-बोध में व्यायाम करना पड़ेगा। वाणी-विदग्धता के ऐसे चमत्कार ही, जो लोक के बोध में अजनबी न हों, वहाँ प्रयोग-योग्य हो सकते थे। 'वार्ता' काव्य की ये विशेषताएँ हमें प्रबन्धकाव्य के संवादात्मक अंशों में मिलती हैं—जैसे महाभारत का गृध्र-गोमायु-संवाद, रघुवंश का सिंह-दिलीप-संवाद, रघु-कौत्स-संवाद, कुमारसम्भव का पार्वती-ब्रह्मचारी-संवाद। कुमार-सम्भव में पार्वती और ब्रह्मचारी का जो संवाद है वह वार्ता के वर्णना प्रकार के अधिक निकट है। संवादात्मक काव्य वार्ता-काव्य का ही समानार्थक है। दण्डी अथवा कालिदास के सामने संवाद-काव्यों की रचना कहानियों के कहने में होती रही होगी, कथावस्तु को रोचक बनाने तथा लोक-सम्मत भावों-विचारों को उन्हीं की प्रकृति में प्रकट करने के लिए यह संवाद-काव्य उत्कृष्ट माध्यम था, ऐसे काव्यों में दण्डी के दश गुणों में से कान्तिगुण का व्यवहार होता था, जो वैदर्भ कवियों का काव्य-प्रयोग था। कालिदास ने अपने महाकाव्य की कहानी में वार्ता (संवाद) काव्य का सफल प्रयोग

---

१४. काव्यादर्श १। ८८
इति सम्भाव्यमेवैतद् विशेषाख्यानसंस्कृतम्।
कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः॥

१५. अमरकोश १। ६। ७ वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात् ···।

१६. अमरकोश ३। ३। ७५ वार्ता वृत्तौ जनश्रुतौ।

किया है और प्रत्येक सवाद मे लोक-सम्मत व्यवहार, विचार तथा भाव प्रकट किये हैं—

एकातपत्र जगत प्रभुत्व नव वय कान्तमिद वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढ प्रतिभासि मे त्वम्॥
(रघुवश २।४७)

सिंह दिलीप से कहता है कि तुम एक गाय के लिए एकछत्र राज्य, जगत् का वैभव और जवानी का यह शरीर छोड़ रहे हो, तुम से बढ़ कर मूर्ख कौन होगा? इसमें थोड़े से लाभ के लिए बहुत बडी हानि नहीं उठानी चाहिए, लोक के इस प्रकृत विचार का निबधन है। और—

नीवारपाकादि कडगरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित्।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभाग वन्य शरीरास्थितिसाधन व॥
(रघुवश ५।९)

इसमें ऋषि-आश्रम के नीवार आदि की सुरक्षा और अतिथियों के लिए जीविका की स्वस्थ स्थिति का प्रश्न लोकयात्रा का ही सामान्य विषय है। इसी प्रकार रघु के प्रति कहा गया कौत्स का यह कथन है—

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्! नाथे कुतस्त्वय्यशुभ प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टे कल्पेत लोकस्य कथ तमिस्रा॥
(रघुवश ५।१३)

राजन्! सब प्रकार से कुशल है, आपके रक्षक रहते प्रजा को दु:ख कैसे हो सकता है? सूर्य तप रहा हो तो भला अन्धकार लोक की दृष्टि को कसे घेर सकता है?—राजा की प्रशसा मे ऋषि के उपयुक्त कहे जाने योग्य प्रशसा वचन ये नहीं हैं। यह तो सामान्य लोक की सीधी साधी अतिशय अर्थ-पूर्ण वाणी है, जो प्रशसा परक होने से सुहावनी बन रही है। ऋषि अपनी वाणी मे यदि कहता तो जैसा प्रथम सर्ग के आरम्भ में दिलीप के वर्णन में स्वय कवि ने कहा है, कुछ वैसा कहता—जैसा कि इस छन्द मे है—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मन परम्।
न व्यतीयु प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तय॥
(रघुवश १ १७)

अथवा,

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
संपद्विनिमयेनौभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥
(रघुवंश १.२६)

इस छन्द में राजा के शासन की प्रशंसा ही कवि कर रहा है लेकिन उसकी वाणी की प्रकृति लोक की नहीं है, राजा की महिमा में उसने ऋषि-सम्मत शास्त्रीय वचनों का उपक्रम किया है। 'दिलीप की प्रजा मनु के बताये मार्ग से रेखामात्र भी बहक कर इधर-उधर नहीं चलती थी।' 'वह सम्राट धरती के किसानों से यज्ञ के लिए ही कर लेता था' ये वाक्य उक्त श्लोकों में ऋषि-प्रयुक्त वाणी के अभिज्ञान हैं। और रघुवंश के दूसरे–पाँचवें सर्ग की वार्ता विधा से भिन्न हैं।

अतः वार्ता-काव्य की रचना के चिह्न हमें महाकाव्य की कहानी में सुरक्षित मिलते हैं, वे वहाँ हैं, जहाँ लोक-भाव की भूमि पर घटना-प्रसंगों में संवादों की योजना है। संवाद वार्ता-काव्य का उत्कृष्ट अंश होता था ! वार्ता एक कहानी होती थी, कहानी गद्य या पद्य में कही जाती थी, उसे रोचक बनाने के लिए बीच-बीच में कथावाचक पात्रों के संवादों में कान्तिगुण की पद्य-रचना का प्रयोग करता था। ऐसे संवाद-काव्यों को, कान्तिगुण जिनकी विशेषता थी, वार्ता (कहानी) में प्रयुक्त होने के कारण दण्डी ने वार्ता कहा है, जहाँ संवाद प्रणय-विषयक हो जाता था, उसे वर्णना कहते थे, था वह भी वार्ता का ही प्रकार।

यह 'वार्ता' काव्य पद्य के अन्य भेदों—मुक्तक, कुलक, कोष, संघात से अत्यधिक महत्वपूर्ण महाकाव्य की रचना-प्रक्रिया है, कथावस्तु का प्राण है, किन्तु कहानी अथवा महाकाव्य में इसका इतना अन्तर्भाव हो चुका था कि इसके अस्तित्व को अलग रख कर इसका व्याख्यान नहीं हुआ। दूसरी बात यह थी कि उक्त मुक्तक, कुलक आदि भेद पद्य की संख्या और जाति पर आधारित हैं, उनके साथ इस भेद की कोई सजातीयता नहीं है। कालिदास का मेघदूत प्रणय के वियोग संयोग की एक छोटी-सी कहानी है। उसी के माध्यम से कवि ने देश के इतिहास और स्थानों के भूगोल की कहानी भी चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रस्तुत कर दी है। वार्ता के तीनों अर्थ—(१) लौकिक उपचार वचन (२) स्वस्थ प्रियालाप (३) इतिहास का यथावद् वर्णन 'मेघदूत' में निबद्ध हैं। कालिदास ने कहानी में वार्ता और वर्णना को काव्य के उत्कृष्ट परिधान में सजा कर ऐसा खड़ा किया है कि वार्ता (कहानी) का सारा अस्तित्व ही काव्य में आत्मसात्

हो गया है। वस्तुत 'मेघदूत' मूलरूप में वार्ता और निरक्षित रूप में वार्ता-काव्य है। मध्यभारत (वदर्भ) के वार्ता काव्यों की यह परम्परा राजस्थानी भाषा की बोलियों में 'वात' के रूप में बनी रही, 'वात' अर्थात् वार्ता (कहानी)। यह भी धारा प्रवाह कही जाने वाली कहानी नहीं होती थी, प्रश्नोत्तर के रूप में संवादात्मक कहानी ही राजस्थानी 'वात' है। दण्डी के कान्तिगुण विषयक वार्ता काव्य का निदर्शन राजस्थानी 'वात' में सुरक्षित है।

शिल्पी—आचार्य नदलाल बोस

चतुर्दण्डी प्रकाशिका में श्रुति-स्वर चर्चा

विद्याधर व्यंकटेश वझलवार

प्राचीन काल में श्रुति स्वरों की निष्पत्ति के लिये वीणावाद्य का उपयोग किया जाता था, यह बात भरत मुनि के नाट्यशास्त्र, पं० शारङ्गदेव के संगीत-रत्नाकर, मध्ययुग के पं० अहोबल के संगीत-पारिजात तथा श्रीनिवास आदि पंडितों के ग्रंथों से स्पष्ट होती है। दक्षिण भारतीय संगीत में भी यही प्रथा प्रचलित थी। इस बात का प्रमाण सप्तदश शताब्दी में लिखित पं० वेंकटमखि के 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका' ग्रंथ में पाया जाता है। इसके श्रुति प्रकरण के पहले ही श्लोक में वे कहते हैं कि पहले प्रकरण में वीणा का सप्रपंच निरूपण किया गया है। उसकी तंत्रियों पर स्थापित बारह स्वरों में श्रुतियों को विभाजित करते हुए उनका निरूपण किया जा रहा है।

> आद्यप्रकरणो वीणा सप्रपञ्चं निरूपिता।
> तत्तन्त्रीषु निरूप्यन्ते श्रुतयोऽथ विभागशः॥ श्रुतिप्रकरणम् श्लोक १
> द्वाविंशतिरिति प्रोक्ताः श्रुतयो भरतादिभिः।
> ताश्च वीणाप्रसिद्धेषु सुस्पष्टं विभजामहे॥
> स्वरेषु शुद्धविकृतभेदाभ्यां द्वादशात्मसु। श्रु० प्र० ४-५

श्रुति की व्याख्या करते समय वे कहते हैं कि स्वर उत्पन्न करने में समर्थ हो ऐसा नाद-विशेष श्रुति नाम से परिचित है।

> श्रुतिर्नाम भवेन्नादविशेषः स्वरकारणम्

परंतु वे यह भी प्रतिपादित करते हैं कि वास्तव में श्रुति एवं स्वर में प्रभेद नहीं है। कारण दोनों ही एक ही नाद के रूप हैं। उनमें परिणामी और परिणाम का संबंध है, जैसा कि स्वर्णपिंड और उसी से बने हुए स्वर्ण किरीट में होता है। स्वर्ण पिंड परिणामी है और किरीट परिणाम है, स्वर्णपिंड में कुछ विशेष प्रकार की प्रक्रिया की परिणति है किरीट। तद्वत् श्रुति है परिणामी और स्वर है परिणाम। श्रुति कहलाने वाले नाद स्निग्धत्व और अनुरणन इन दो गुणों से युक्त होकर स्वयं ही रंजन करने में शक्तिमान हों ऐसी व्यवस्था करने से श्रुति जो रूप धारण करती है, वही स्वर है। वाद्ययंत्रों में जवारी की व्यवस्था करने से और स्निग्धता तथा माधुर्यपूर्ण कंठ से लगातार गाने से यह साध्य होता है। पं० वेंकटमखि कहते हैं :—

> ननु नास्ति स्वरश्रुत्योर्भेदो नादैकरूपयोः॥२॥

विद्यते परिणामत्वपरिणामित्व समव ।
अस्ति भेदस्तयोर्यद्वत्स्वर्णटङ्ककिरीटयो ॥३॥

और प० शारङ्गदेव कहते हैं—

श्रुत्यनन्तरभावी य स्निग्धोऽनुरणात्मक ।
स्वनो रञ्जयति श्रोतृचित्त स स्वर उच्यते ॥२६॥ स० रत्नाकर, स्वराध्याय ।

श्रुति-विभाजन विधि में प०वेंकटमखि कहते है —

शुद्ध ऋषभ की श्रुतियाँ तीन हैं। तद्वत शुद्धगाधार की दो श्रुतियाँ हैं। शुद्ध मध्यम की श्रुतियाँ चार हैं। इन चार में से प्रथम श्रुति पर साधारण गाधार का, तीसरी पर अतर गांधार और चौथी पर शुद्ध मध्यम का स्थान है। इस प्रकार साधारण गाधार एक श्रुतियुक्त, अतर गाधार मध्यम की दूसरी और तीसरी श्रुतियाँ लेकर दो श्रुतियुक्त एव साधारण गांधार तथा अतर गांधार इन दो विकृत स्वरो को कुल तीन श्रुतिया प्रदान करके चतुश्रुतिक कहलानेवाला शुद्ध मध्यम अपनी चौथी श्रुति पर स्थानापन्न होकर केवल एक श्रुतियुक्त होता है।

मध्यमस्वर की चार श्रुतियाँ और उनमें साधारण तथा अतर गाधार व शुद्ध मध्यम के स्थान —

१०	११	१२	१३
साधारण गांधार		अतर गांधार	शुद्ध मध्यम

सगीत के विद्वानों द्वारा पचम चारश्रुतियुक्त कहा गया है। (परतु) उसकी पहली, दूसरी तथा तीसरी ऐसी तीन श्रुतियां लेते हुए वरालीमध्यम (तीव्र मध्यम) तीसरी श्रुति पर स्थानापन्न होता है। इस प्रकार वराली मध्यम को तीन श्रुतियां देकर पचम चौथी पर बैठते हुए केवल एक श्रुतियुक्त होता है। वस्तुस्थिति यह होते हुए भी पचम स्वर चतुश्रुतिक कहलाता है।

पचम की चार श्रुतियां और उनमें वराली मध्यम का तथा पचम का स्थान

१४	१५	१६	१७
		वराली मध्यम	पचम

शुद्ध धैवत को तीन श्रुतियों का स्वर कहा गया है। तद्वत् शुद्ध निषाद दो श्रुतियों का और षड्ज चार श्रुतियों का कहा गया है। षड्ज को चार श्रुतियों में से पहली पर बैठते हुए कैशिकी निषाद एक श्रुतियुक्त स्वर होता है। दूसरी तथा तीसरी श्रुति लेते हुए और तीसरी पर स्थापित होते हुए काकली निषाद दो श्रुतियुक्त स्वर होता है। अतएव अपनी पहली

श्रुति कैशिकी निषाद को एवं दूसरी, तीसरी काकली निषाद को दान कर के षड्ज केवल एक श्रुति युक्त स्वर होता है।

षड्ज की चार श्रुतियां और उनमें कैशिकि निषाद, काकली निषाद तथा षड्ज के स्थान

इस प्रकार पं० वेंकटमखि दाक्षिणात्य संगीत के सप्तकांतर्गत बारह स्वरों का स्थान किन श्रुतियों पर होगा, यह बताते हैं। स्पष्टता के लिये निम्नांकित सारिणी दी जा रही है।

इसके पश्चात् बाईस श्रुतियां वाणी पर किस-किस स्थान में बजेंगी यह बताया है। इस कार्य को संपन्न करनेवाली वीणा को 'श्रुति-वीणा' कहा गया है। श्रुति वीणा तैयार करने के लिये पं० वेंकटमखि पूर्व-वर्णित मध्यमेल वीणा को पसंद करते हैं। शुद्धमेल वीणा को त्याग कर इस कार्य के लिये मध्यमेल वीणा को अधिक पसंद करने का कारण वे यह बताते हैं— वीणा कोई भी हो उस पर श्रुतियों के स्थान दिखाने हों तो मंद्र, मध्य और तार इन तीन स्थानों में से किसी एक स्थान के बारह स्वरों के बीच में नये श्रुति पर्व बैठाने पड़ेंगे। इस कारण एक ही तंत्री पर बारह स्वरों के पर्व हों तथा उन पर्वों के बीच श्रुति पर्व बैठाने के लिये पर्याप्त व्यवधान हो तो ऐसी वीणा लेना आवश्यक है। यह सुविधा शुद्धमेल वीणा या रघुनाथेन्द्र-मेलवीणा इन दोनों में से एक में भी नहीं हैं। जिसमें यह सुविधा है वह मध्यमेल वीणा ही है। अतएव उसी को पसंद किया गया है।

मध्यमेल वीणा में मध्यस्थान के बारह पर्वों के बीच श्रुतिव्यंजक पर्व बैठाने की विधि पं० वेंकटमखि के विवेचनानुसार इस प्रकार है—

मेरू तथा शुद्धऋषभ के पर्व के बीच वाला अंतर तीन समान भागों में विभाजित करना होता है। ऐसा करते हुए दो विभाजक बिंदुओं पर दो पर्व बैठाए जाते हैं। इनमें से मेरू के बाद प्रथम पर्व पर ऋषभ की प्रथम श्रुति, दूसरे पर दूसरी श्रुति तथा पूर्वस्थापित तीसरे पर शुद्ध ऋषभ बजेंगे। शुद्ध ऋषभ और शुद्ध गांधार के मध्यवर्ती अंतर के बीचों-बीच एक पर्व

वैठा कर पूरे क्षेत्र को दो समान भागों मे वाटा जाता है। इस प्रकार मध्यवर्ती नूतन पर्व तथा पूर्वस्थापित शुद्ध गाधारवाला पर्व गाधार की दो श्रुतियों के ध्वनिरूप स्पष्ट करते है। शुद्ध गाधार तथा शुद्ध मध्यम के बीचवाले क्षेत्र मे पहले से ही साधारण गांधार तथा अतर गांधार इन दो विकृत स्वरों के दो पर्व मौजूद है। साधारण गाधार एक श्रुति का ही स्वर है। तथा शुद्ध मध्यम भी एक ही श्रुति का है। अतएव साधारण गांधार मध्यम की प्रथम श्रुति का तथा अतर गाधार मध्यम की तृतीय श्रुतिका ध्वनिरूप है। स्वय मध्यम का पर्व चतुर्थ श्रुति दिखाता है। अव केवल साधारण तथा अतर गांधार के ठीक मध्य में एक नया पर्व वैठाने से उस पर मध्यम की दूसरी श्रुति पाई जाएगी। इस प्रकार शुद्ध मध्यम की चारो श्रुतियों के ध्वनिरूप सपन्न हुए। शुद्ध मध्यम तथा पचम के मध्यवर्ती क्षेत्र मे वराली मध्यम का जो पर्व है, वह पचम की तीसरी तथा स्वय पचम का पर्व उसकी ही चौथी श्रुति दर्शाते है। वराली मध्यम तीन श्रुतियो का स्वर है, यह पहले ही बताया गया है। अतएव शुद्ध मध्यम तथा वराली मध्यम के बीचवाले क्षेत्र मे समान व्यवधान से दो नये पर्व वैठाने से वराली मध्यम की पहली तथा दूसरी श्रुतियाँ स्पष्ट होंगी। इस प्रकार पचम की चारो श्रुतियां पाई गई। अब पचम तथा शुद्ध धैवत, शुद्ध धैवत तथा शुद्ध निषाद और कशिकी निपाद तथा काकली निपाद इन स्वरों के बीचवाले क्षेत्र को पूर्वोक्त पद्धति से ही विभाजित करते हुए नये पर्व स्थापित करने से सप्तक के उत्तरग की भी सब श्रुतिया स्पष्ट हो जाती हैं

इस प्रकार वाईस श्रुतियों में से प्रत्येक का ध्वनिरूप जानने का मार्ग प० वेंकटमखि ने बतला दिया है।

यहा पडित स्वय एक सवाल उठाते हुए उसका समाधान कर देते है। प्रश्न यह है कि षड्ज सप्तक का आरभिक स्वर होने के नाते श्रुति प्रदर्शन विधि का आरभ उसी की श्रुतियो से करना स्वाभाविक था। परतु यह मार्ग त्याग कर श्रुति प्रदर्शन का आरभ ऋषभ की श्रुतियों से क्यों किया है। उत्तर में वे कहते हैं कि मध्यमेल वीणा पर मध्य षड्ज के लिये कोई पर्व नहीं है। वह स्वर खुली तन्त्री से ही पाया जाता है। तद्वत् मध्यस्थान के सब शुद्ध विकृत स्वर एक ही तन्त्री पर पाये जा सके ऐसी भी व्यवस्था नहीं है। किसी स्वर की श्रुतिया पृथक पृथक दिखाना हो तो वह स्वर एव उसका पूर्ववर्ती स्वर इन दोनो के पर्वों के बीच के क्षेत्र मे नये पर्व स्थापित किये विना वह सभव नहीं होता। अर्थात आरभ में ही मध्य षड्ज की श्रुतिया दिखानी हों तो उसी तन्त्री पर मद्र शुद्ध निषाद का भी पर्व होना जरूरी है। परतु जिस तन्त्री पर श्रुतियों के पर्व स्थापित किये गये है, उन पर न तो मद्र शुद्ध निषाद का पर्व है न मध्य षड्ज का इस कारण मध्य षड्ज मध्य सप्तक का आरभिक स्वर होने पर भी ऋषभ की श्रुतियो से ही श्रुति प्रदर्शन

का आरंभ करना अनिवार्य हो जाता है। ऊपर के विवरण में षड्ज की जो श्रुतियां बतलाई गई हैं, वे वास्तव में तार-षड्ज की हैं, मध्य-षड्ज की नहीं। परंतु मध्य षड्ज की और तार षड्ज की श्रुतियों में ध्वनि भिन्नता नहीं हो सकती। भिन्नता है केवल स्थान की।

मध्यमेल वीणा पर तारस्थान में श्रुति प्रदर्शन का आरंभ षड्ज से किया जा सकता है। कारण तार षड्ज के पीछे मध्यस्थान के शुद्ध निषाद का पर्व मौजूद होता है। परंतु इस स्थान के स्वरों के पर्वों में व्यवधान इतना स्वल्प होता है कि उनके बीच में श्रुतिपर्व की स्थापना करना असुविधाजनक है। इस कारण यह मार्ग भी त्यक्त हुआ है।

यदि किसी का यही आग्रह हो कि शुद्धमेल वीणा पर ही श्रुति प्रदर्शन किया जाय तो उसके लिये भी पं० वेंकटमखि ने मार्ग बताया है। वे कहते हैं कि सर्वराग-शुद्ध मेल वीणा में तारस्थान के बारह स्वर एक ही अर्थात् चतुर्थ तंत्री पर पाये जाते हैं। अतएव वहां पर श्रुतियों का प्रदर्शन करना संभवनीय है। इस कार्य के लिये जो क्षेत्र काम में लाना पड़ेगा उसकी सीमा मध्यस्थान के कैशिकी-निषाद के पर्व से तारस्थान के कैशिकी-निषाद के पर्व तक होगी। यद्यपि तात्विक दृष्टि से इस क्षेत्र में श्रुति प्रदर्शन करना शक्य है, पर्वों के बीच के व्यवधान की स्वल्पता के कारण नये श्रुति-पर्व बैठाना सुलभ नहीं है। इस कारण पं० वेंकटमखि ने इस व्यवस्था को भी नापसंद करार दिया है। वे स्पष्ट कहते हैं :—

अत्रापि क्षेत्रसंकोचान्मह्यमेतन्न रोचते ॥४५६॥

इस आलोचना के अंत में आत्मविश्वास तथा कृतकार्यता के भावों में आकर पंडित कहते हैं 'अभी तक गोपालनायक कहते थे कि वे अकेले ही श्रुतिवेत्ता हैं। परंतु आज से संगीत के सब पंडित श्रुतियों को जाननेवाले होंगे'।

अहमेव श्रुतीर्वेदेत्याह गोपालनायकः।
अद्यप्रभृति ताः सर्वे श्रुतीर्जानन्तु पण्डिताः ॥

संगीत सोपान में श्रुति के बाद स्वर की सीढ़ी आती है। इस नियम की रक्षा पं० वेंकटमखि ने भी की है। चतुर्दण्डी-प्रकाशिका ग्रंथ में श्रुति-प्रकरण के बाद स्वर-प्रकरण का क्रमांक आता है। इस प्रकरण में स्वर के साथ साथ स्वर से संपर्कित ग्राम, मूर्च्छना, तान, अलंकार, गमक और स्वर के चतुर्भेदवादी, समवादी, विवादी तथा अनुवादी इन विषयों की भी चर्चा की गई है।

स्वर की उत्पत्ति श्रुति से मानी गई है। शुद्ध स्वर सात हैं और वे मुखारी-मेल में अंतर्भुक्त हुए हैं। सात शुद्ध स्वरों को बाईस श्रुतियों में इस प्रकार बांटा गया है ; भरतमुनि ने

षड्ज, मध्यम तथा पंचम ये चार चार श्रुति लेनेवाले, ऋषभ तथा धैवत तीन तीन श्रुति लेनेवाले स्वर माने हैं। इसी मत की पुष्टि पं० वेंकटमखि ने की है।

वे विकृत स्वरों की संख्या पांच बताते हैं। यद्यपि पं० शारङ्गदेव के मतानुसार विकृत स्वर बारह हैं और अन्य पंडितों ने उनकी संख्या सात बताई है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि विकृत स्वर पांच ही हैं, ऐसा वेंकटमखि का कहना है। उनके नाम ये हैं (१) साधारण गांधार (२) अंतर गांधार (३) वराली मध्यम (४) कैशिकी निषाद (५) काकली निषाद। इनमें पहले दो मध्यम के क्षेत्र में, तीसरा वराली मध्यम पंचम के क्षेत्र में और अन्तवाले दो, कैशिकी तथा काकली निषाद षड्ज के क्षेत्र में अवस्थित हैं। अतएव सात शुद्ध तथा पांच विकृत मिलाकर सप्तक में कुल बारह स्वर होते हैं। इनमें कोई एक रूप, कोई द्विरूप और कोई त्रिरूप हैं।

जब शुद्ध गांधार गांधार (ग) नाम से प्रयुक्त होता है तब उसको द्विश्रुतिक स्वर माना जाता है जैसा कि मुखारी राग में है। जब वही ध्वनि रिषभ (रि) के नाम से व्यवहृत होती है जैसा कि श्रीराग में है, तब वह पंचश्रुतिक स्वर माना जाता है। तद्वत जब शुद्धनिषाद निषाद (नि) के नाम से प्रयुक्त होता है, जैसा कि मुखारी राग में है, तब उसको द्विश्रुतिक स्वर माना जाता है और जब वही ध्वनि धैवत (ध) बनकर प्रयुक्त होती है, जैसा कि शंकराभरण राग में है, तब वह पंचश्रुतिक स्वर होता है। अतएव शुद्धगांधार तथा शुद्ध-निषाद द्विरूपी स्वर हैं।

जब साधारण गांधार शुद्ध रिषभ के साथ आता है तब त्रिश्रुतिक होता है। उदा० भूपाल राग। जब वही पंचश्रुतिक रिषभ के साथ रहता है तब एकश्रुतिक बन जाता है। उदा० श्रीराग। जब वही स्वर रिषभ के (रि) नामसे प्रयुक्त होता है तब षट् श्रुतिक (छ श्रुति लेनेवाला) होता है। उदा० नाट राग। इस प्रकार यह साधारण गांधार त्रिरूपी स्वर है।

कैशिकी निषाद शुद्ध धैवत की संगति में त्रिश्रुतित्व प्राप्त करता है। उदा० भैरवी राग। जब वही पंचश्रुतिक धैवत के साथ आता है तब एकश्रुतिक होता है। उदा० श्री राग, वही जब धैवत के (ध) नाम से व्यवहृत होता है तब षट्श्रुतिक स्वर होता है। उदा० नाट राग। इस प्रकार साधारण गांधार और कैशिकी निषाद ये दोनों त्रिरूपी स्वर हैं।

जब अंतर गांधार शुद्ध रिषभ के साथ होता है तब वह पंचश्रुतिकत्व प्राप्त करता है। उदा० गौलराग। वही जब पंचश्रुतिक रिषभ के साथ आता है तब वह त्रिश्रुतिकत्व प्राप्त करता है, उदा० शंकराभरण राग। जब वही स्वर षट्श्रुति ऋषभ के साथ युक्त होता है

तब द्विश्रुतिक हो जाता है। उदा० नाट राग। इस तरह देखा जाता है कि अंतरगांधार स्वर त्रिरूपी है।

काकली निषाद शुद्धधैवत के साथ युक्त होने पर पंचश्रुतिक स्वर होता है, उदा० गौलराग। वही यदि पंचश्रुतिक धैवत के साथ आये तो त्रिश्रुतिक होता है। उदा० शंकराभरण राग। जब वही स्वर षट्श्रुतिक धैवत के साथ आता है तब द्विश्रुतिक हो जाता है, उदा० नाट राग। इस प्रकार अंतर गांधार के ही समान काकली निषाद के भी तीन रूप हैं।

जब शुद्ध मध्यम शुद्ध गांधार की संगति में रहता है तब वह चतुःश्रुतिक होता है, उदा० मुखारी राग। साधारण गांधार के साथ युक्त होने पर वही त्रिश्रुतिक होना है, उदा० श्रीराग। वही अंतर गांधार के साथ आने पर एक श्रुतिक स्वर बन जाता है, उदा० गौन राग। अतएव यह भी त्रिरूपी स्वर है।

षड्ज स्वर जब शुद्धनिषाद के साथ प्रयुक्त होता है तब वह चतुःश्रुतिक होता है। उदा० मुखारी राग। वही जब कैशिकी निषाद के संयोग में आता है तब त्रिश्रुतिक होता है। उदा० श्री राग। काकली निषाद की संगति में जब वह आता है तब एकश्रुतिक होता है। उदा० गौल राग। अतएव षड्ज भी त्रिरूपी स्वर है।

शुद्ध गांधार के साथ वराली मध्यम सात श्रुतियोंका स्वर होता है, उदा० वराली राग। वही साधारण गांधार के साथ छः श्रुतिवाला हो जाता है, उदा० पन्तुवराली राग। जब वराली मध्यम अंतर गांधार के साथ प्रयुक्त होता है तब वह चतुःश्रुतिक स्वर होता है, उदा० शुद्धरामक्रिया राग। इस प्रकार वराली मध्यम की भी त्रिरूपता देखी जाती है।

पंचम शुद्ध मध्यम की संगति में चतुःश्रुतिक, और वराली मध्यम की संगति में एकश्रुतिक होता है। अतएव पंचम द्विरूपी स्वर हैं।

इस प्रकार देखा गया कि शुद्धरिषभ तथा शुद्ध धैवत एकरूपी, शुद्ध गांधार, शुद्ध निषाद, तथा पंचम द्विरूपी और साधारण गांधार, कैशिकी निषाद, अंतरगांधार, काकली निषाद, शुद्ध-मध्यम काकली मध्यम तथा षड्ज त्रिरूपी स्वर हैं।

सप्तकांतर्गत स्वरों का यह रूप प्रपंच रच कर उसका विवेचन करने का क्या उद्देश्य है और इससे किस लाभ की निष्पत्ति हुई है इसका स्पष्टीकरण करते हुए पं० वेंकटमखि कहते हैं कि बाहत्तर मेलश्रृंखला के प्रत्येक मेल में आनेवाले स्वरों के श्रुत्यंतर स्पष्टता से समझने के लिये इसका प्रयोजन है। 'चतुश्चतुश्चतुश्चैव' इस श्लोक के अनुसार श्रुत्यंतर केवल मुखारी मेल के ही स्वरों में है क्योंकि यह शुद्ध मेल है। भरतादि प्राचीन मुनियों द्वारा निरुपित यह श्रुतिवंटन शुद्ध स्वरों से ही संबंधित है। अतएव इसके अनुसार श्रुत्यंतरवाली स्वर रचना केवल शुद्धस्वरों

के ही मेल मे हो सकती है। अर्थात बाकी ७१ मेलों में से किसी की स्वर रचना श्रुत्यंतरों द्वारा बनानी हो तो कोई विधि होनी आवश्यक है, यह सोचकर उन्होंने यह एकरूपी, द्विरूपी तथा त्रिरूपी नामकरण आविष्कार किया है। प्रत्येक मेल के स्वरों मे २२ श्रुतियां किस प्रकार बाटी गई है, यह इससे विना प्रयास समझा जा सकता है।

षाडव तथा औडुव जाति के रागों मे वर्जित होनेवाले स्वरों की श्रुतियों का क्या होता है क्या वे एकदम लुप्त समझी जाँय अथवा वे वर्जित स्वर के निकटवर्ती उच्च स्वरके क्षेत्र मे चली जाती है ऐसा माना जाय, ऐसा सवाल प० वेंकटमखि ने उठाया है। उत्तर मे पंडितवर कहते है कि वे स्वर तथा उनकी श्रुतियां न तो लुप्त होती है न परवर्ती स्वर के क्षेत्र मे चली जाती है। वे उन वर्जित स्वरो मे ही अन्तर्निहित रहती हैं ऐसा ही मानना उचित होगा। इस धारणा का औचित्य इसलिये है—प्रत्येक मेल मे आनेवाले स्वरो के श्रुत्यंतर निर्धारण के लिये बाईसों श्रुतियो की नितान्त आवश्यकता होती है। यदि रागो का षाडवत्व, औडुवत्व साधना सभव होती तो सगीत मे केवल सपूर्ण जाति के ही रागों का अस्तित्व होता। परंतु यह प्रत्यक्ष है कि गायक व दकगण स्वरो को वर्जित करके औडुव, षाडव राग गाया बजाया करते है। यदि इस प्रकार बीच में छोड़े हुए स्वर (तथा उनकी श्रुतियाँ भी) एक बारगी लुप्त मानी जाय तो फिर उनके ऊपरवाले स्वरों का अस्तित्व सिद्ध करना असभव हो जायगा। अतएव राग में वर्जित स्वरों तथा उनकी श्रुतियो का लोप मानना अनुचित है ऐसा वेंकटमखि का सिद्धान्त है।

यदि शुद्ध स्वर की उत्तम श्रुति को ही स्वरत्व दिया जाय अर्थात् सप्त शुद्धस्वरों में षडज मध्यम तथा पचम की चौथी, धैवत, रिषभ की तीसरी, गाधार, निषाद की दूसरी इन श्रुतियों को ही स्वरूप का अधिकार दिया जाय तो फिर उनकी पूर्ववर्ती श्रुतियों का प्रयोजन तथा कार्य क्या है यह सवाल उठाकर उसका समाधान इसी प्रकार से प० शारङ्गदेव ने भी सगीत-रत्नाकर मे किया है, यथा

> ननु श्रुतिश्चतुर्थ्यां दिरत्वेन स्वरकारणम्।
> न्यादीना तत्र पूर्वासा श्रुतिना हेतुना कथम् ॥२७॥

समाधत्ते—

> न्र मस्तुर्यातृतीयादि श्रुति पूर्वाभिकाङ्क्षया।
> निधार्यतेऽत श्रुतय पूर्वा अप्यत्र हेतव ॥१२८॥

द्वादश स्वरों की इस चर्चा के बाद प० वेंकटमखि 'ग्राम' का विचार करते हैं। मोटे तौर पर स्वरसमूह ही ग्राम है, स्वरसमूहात्मग्राम'। लोकसमूह से जैसे गाँव (ग्राम) की सृष्टि होती

है वैसे ही स्वरसमूह से सांगीतिक ग्राम की उत्पत्ति है। परंतु केवल 'स्वरसमूह' को ग्राम कहने से ग्राम शब्द की व्याप्ति बढ़ जाती है।

इस कारण 'मूर्च्छनाशुद्धकूटाख्यतानाद्याश्रय' अर्थात् 'मूर्च्छना शुद्धतान, कूटतान इत्यादि का आश्रय-स्थान अथवा उत्पत्तिस्थान' यह विशेषण 'स्वरसमूह' शब्द के पीछे लगाना आवश्यक है ऐसा उनका कथन है। तब 'ग्राम' की व्याख्या यों होगी : मूर्छना तथा तान (शुद्ध, कूट) आदि का उत्पत्ति स्थान होने की क्षमता से युक्त स्वरसमूह ग्राम कहलाता है।

ग्राम तीन बताये गये हैं। षड्ज ग्राम, मध्यज ग्राम, गांधार ग्राम। 'चतुश्चतुश्चतुश्चैव' नियम के अनुसार श्रुति ग्रहण करनेवाले सप्तस्वर समूह को षड्ज ग्राम कहा जाता है। इसमें पंचम (प) स्वर सत्रहवीं श्रुति पर स्थानापन्न होता है यह पंचम जब एक श्रुति नीचे अर्थात् सोलहवीं श्रुति पर स्थापित किया जाता है तब उस स्वर समूह को मध्यम ग्राम की संज्ञा प्राप्त होती है। यह स्पष्ट है कि मध्यम ग्राम में पंचम त्रिश्रुतिक और धैवत चतुःश्रुतिक हो कर बाकी स्वर षड्जग्राम जैसे ही रहते हैं।

गांधार ग्राम में श्रुतिवंटन कुछ अधिक भिन्नता से होता है। षड्ज तीन श्रुतियों का, रिषभ, दो श्रुतियों का, गांधार चार श्रुतियों का, मध्यम तीन श्रुतियों का, पंचम तीन श्रुतियों का, धैवत तीन श्रुतियों का और निषाद चार श्रुतियों का होता है। तीन ग्रामों में गांधार ग्राम महीतल पर नहीं है। वह केवल स्वर्ग लोक में ही सीमित है, इस विश्वास में कोई मतभेद नहीं है। मध्यम ग्राम भी प्रायः लुप्त हो गया है। ऐसा विधान पं० वेंकटमखि करते हैं। इस विधान की पुष्टि में वे ऐसा प्रमाण देते हैं कि वास्तव में मध्यम ग्राम का पंचम षड्ज ग्राम का वराली मध्यम है। परंतु मध्यम ग्राम से जिसकी उत्पत्ति मानी जाती है, ऐसे मध्यमादि प्रभृति रागों में वराली मध्यम नहीं है। अतएव प्रचार से असंगत होने के कारण मध्यम ग्राम को भी छोड़ देना ही उचित् है। अतएव एक षड्जग्राम ही ऐसा है जिसको मान्यता देना युक्तिसंगत होगा।

मूर्च्छना ग्रामाश्रिता वा ग्रामावयवभूता होती है। सप्तस्वरों को बिना क्रमभंग किये आरोही तथा अवरोही रूप में गाने से मूर्च्छना होती है। षड्ज से निषाद तक आरोही वर्ण से जाकर निषाद से अवरोही वर्ण से षड्ज पर वापस आने पर षड्ज मूर्च्छना होगी यथा—

(१) सा रे ग म प ध नि, नि ध प म ग रे सा

(२) रे ग म प ध नि सां, सां नि ध प म ग रे इत्यादि।

प्रत्येक स्वर से एक मूर्च्छना इस हिसाब से हर एक मेल में सात मूर्च्छना होती है। इस प्रकार ७२ मेलों की ७२×७=५०४ मूर्च्छनाओं की कल्पना पं० वेंकटमखि ने की है।

तान को स्वर-विस्तार लक्षण कहा गया है। अर्थात् तान की उपयुक्तता स्वर विस्तार या राग विस्तार करने में है। तानें दो प्रकार की बताई हैं। (१) शुद्धतान (२) कूटतान जिस तान द्वारा केवल एक ही राग सूचित होता है, वह शुद्धतान कहलाती है। दो रागों में साधारण रूप से व्यवहृत होनेवाली तान कूटतान है।

तान के पश्चात् प० वेंकटमखि 'अलंकार' की चर्चा में प्रवेश करते हैं। भूमिका रूप में वे कहते हैं कि सं० रत्नाकर ग्रंथ में पं० शारङ्गदेव ने ६३ अलंकार बताये हैं। परंतु प्रस्तुत काल में उनका प्रचलन बंद-सा होकर उनकी जगह प्रसिद्ध आठ अलंकारों ने ली है। उनके नाम तथा लक्षण इस प्रकार हैं।

(१) झोंपट (२) ध्रुव (३) मठ्य (४) रूपक (५) झंपा (६) त्रिपुट (७) अठ (८) एकताल, वास्तव में ये नाम तालों के हैं। परंतु अलंकारों की रचना इन्हीं तालों के छंदों में की जाने की वजह से उनको उन तालों के ही नामों से पहचाना जाता हैं।

झोंपट अलंकार —

यह झोंपट ताल में निबद्ध होता है। झोंपट ताल की मात्रा संख्या आठ होती है। प० वेंकटमखि ने मात्रा को 'अक्षरकाल' इस संज्ञा से संबोधित किया है। इस ताल की आठ मात्रा तीन भागों में तथा २। २। ४ के छंद में विभक्त होती है। दो मात्रा निर्देशित करने के लिये दाक्षिणात्य संगीत पद्धति में 'द्रुत यह सांकेतिक शब्द प्रयुक्त होता है। तद्वत् चार मात्रा के लिये 'लघु' संकेत है। द्रुत का चिह्न O और लघु का । है। अर्थात् झोंपट ताल की पहचान O O। इस चिह्न समूह से होगी। यह ताल प्रचलित काललिपि में यों लिखा जायगा—१ २ । ३ ४ । ५ ६ ७ ८ ।

× २ ३
(सम) (दूसरी) (तीसरी)
ताली ताली

इस अलंकार का चतुर्दण्डी प्रकाशिका में दिया हुआ स्वर-रूप इस प्रकार है। सरि, गम, पध निस, सनि धप, मग रिस इस रूप में प्रयुक्त स, रि तथा परवर्ती अलंकारों में आनेवाले गा, मा, इ ग, थ सा रि ग जैसी स्वरलिपि उत्तर-भारतीय संगीत से परिचित विद्यार्थियों को कुछ अजीब सी लग सकती है। परंतु निम्नोक्त स्पष्टीकरण से गुत्थी सुलझ जायगी।

चतुर्दण्डी प्रकाशिका में श्रुति-स्वर चर्चा

स=उत्तर भारतीय एक मात्रा दीर्घ सा— { ग, गा, म, मा, प, पा
सा=,, ,, दो ,, ,, सा— { ध, धा, इसी प्रकार समझने चाहिये }

रि=,, ,, एक ,, ,, रे— { नि, नी इसी प्रकार
री=,, ,, दो ,, ,, रे { ,, ,, }

स रि, इ ग, अ सा रि ग, अ मा मा।

इस स्वर पंक्ति में इ और अ का अर्थ यह है कि उनका पूर्ववर्ती स्वर ही एक मात्रा या अक्षरकाल तक दीर्घ करना है। परिणाम में रि दो मात्रा तथा ग दो मात्रा दीर्घ होते हैं। यदि एक ही स्तंभ के अंदर ये स्वर दो-दो मात्रा के होते तो रि की जगह पर री (दीर्घ) तथा ग की जगह पर गा (आकारान्त) लिखा जाता। परंतु यहाँ स्वर की मात्रा और उसके दीर्घीकरण की मात्रा दो भिन्न स्तंभों में विभक्त की गई है। इस कारण इ, अ ये संकेत देने पड़े हैं। यह पंक्ति उ० भा० स्वरलिपि में यों लिखी जायेगी :—

सा रे। ऽ ग। ऽ सा ऽ रे ग। ऽ म ऽ म ऽ। तद्वत् झोंपट अलंकार इस तरह लिपिबद्ध होगा—

सा रे। ग म। प ध नि सां। सां नि। ध प। म ग रे सा। झोंपट तालका 'र गण' रूप :— 'र' गण काव्य-शास्त्र के गणों में से एक है। 'र' गण में गुरू। लघु। गुरू अर्थात् २।१।२ यह छंद होता है। इस गण का संकेत हैं— ⌣ —। झोंपट ताल का यह रूप गीत में व्यवहृत होता है।

धृव अलंकार :—

धृव अलंकार धृवताल में निबद्ध होता है। धृवताल के दो प्रकार हैं। (१) नाट्यदण्डी-धृव (२) वीणावाद्य धृव। इन दोनों में अक्षर काल अर्थात् मात्राओं की संख्या १४ होती है। परंतु छंद प्रभेद है। नाट्यदण्डीधृव में एक चतुर्मात्रिक लघु तथा एक दशमात्रिक गुरु होता है। छंद है ४।१०। यह प्रामाणिक रूप है। परंतु वीणावादकों ने माधुर्यवृद्धि की दृष्टि से इसको त्रिधातुक बताते हुए ४।४।६ यह रूप दिया। इसमें भी बदल करके प्रत्यक्ष व्यवहार में ६।४।४ यह छंद प्रयुक्त किया जाता है।

अलंकार का ग्रंथोक्त स्वर रूप :—

सा रे ग म ग रि, स रि ग रि, स रि ग म; रि ग म प म ग, रि ग म ग, रि ग म प; इत्यादि

प्रचलित उ० भा० स्वरलिपि—

सा रे ग म ग रे ; सा रे ग रे, सा रे ग म। रे ग म प म ग, रे ग म ग, रे ग म प। इ०

मठ्य अलंकार —

यह मठ्यताल में निबद्ध होता है। मठ्यताल में दस मात्राए होती हैं। मात्रा २।४।४ के छन्द में विभाजित की जाती है। दाक्षिणात्य संकेत ० है।

प्रयोक्त स्वरूप—

स रि, ग रि स रि, स रि ग म , रि ग, म ग रि ग, रि ग म प , इ०

उ० भा० स्वरलिपि—

सा रे, ग रे सा रे, सा रे ग म। रे ग, म ग रे ग, रे ग म प। इ०

रूपक अलकार —

यह रुपक ताल में होता है। यह ताल छ मात्राओं का है। छन्द—२।४। तथा संकेत ०।है।

प्रयोक्त स्वरूप —

स रि, स रि ग म, रि ग, रि ग म प , इ०

उ० भा० स्वरलिपि—

सा रे, सा रे ग म। रे ग, रे ग म प। इ०

झम्पा अलकार —

यह अलकार झपाताल में निबद्ध होता है। झपाताल के दो रूप हैं। (१) नाट्यझम्पा वीणाझम्पा। इन दोनों की मात्रा-संख्या दस ही है। नाट्यझम्पा का छन्द १।२।७। तथा वीणाझम्पा का छन्द ३।७।है। वैणिकों ने प्रथम त्रिधातुक को ही स्वीकार किया है। परतु छन्द को ७।१।२ इस रूप में बदल दिया है। दाक्षिणात्य सगीत पद्धति में यह छद इस प्रकार से लिखा जाता है —। ‿७ ०।

प्रयोक्त स्वर-रूप —

स रि ग स रि स रि, ग, मा , रि ग म रि ग रि ग, म, पा , इ०

उ० भा० स्वरलिपि —

सा रे ग मा रे सा रे। ग। म ऽ ॥

रे ग म रे ग रे ग। म। प ऽ॥ इ०

त्रिपुट अलंकार

यह अलंकार त्रिपुट ताल में निबद्ध होता है। त्रिपुट ताल की सात मात्राएँ २।२।३ के छंद में विभाजित की जाती हैं। प्रचलित प्रथा के अनुसार यह छंद ००।३ इस संकेत में लिखा जायगा। परंतु पं० वेंकटमखि इस ताल का छंद बताते समय कहते हैं—

त्रिपुटे द्वौ द्रुतावादौ पृथग्द्वयक्षरसंमितौ।
विरामान्तद्रुतः पश्चादक्षरत्रयसंमितः॥

इस उक्ति के अनुसार संकेत—० ० ०͝ = २+२+(२+१)=७ होगा।

ग्रंथोक्त स्वर-रूप :—

स रि, ग स, रि ग म; रि ग, म रि, ग म प ; इ०

उ० भा० स्वर-लिपि :—

सा रे। ग सा। रे ग म।
रे ग। म रे। ग म प। इ०

अठताल अलंकार :—

यह अलंकार आठताल से निबद्ध होता है। अठताल में चौदह मात्राएँ होती हैं। मात्राओं का विभाजन २, २, ५, ५ इस छंद में है। इस छंद का संकेत है दो द्रुतों के बाद पांच पांच मात्रा के दो लघु अर्थात् ००।५।५ यह है।

ग्रंथोक्त स्वररूप :—

स रि, इ ग, अ सा रि ग, अ मा मा। इ०

उ० भा० स्वर-लिपि :—

सा रे। ऽ ग। ऽ सा ऽ रे ग। ऽ म ऽ म ऽ। इ०

एकताल अलंकार

यह एकताल में निबद्ध होता है। प्राचीन लक्षण के अनुसार एकताल में केवल एक द्रुत अर्थात् दो मात्राएँ होती हैं। परंतु, वेंकटमखि कहते हैं—

'लक्ष्ये त्विदानीमेतादृगेकतालो न रक्तिदः।

भावार्थ—इन दिनों इस द्विमात्रिक तालरूप को माधुर्यपूर्ण नहीं माना जाता। अतएव

'इत्येकतालस्थानेऽस्मिन्नादितालो निवेशितः।'

भावार्थ—इस एकताल के स्थान पर आदिताल का प्रयोग किया जाता है।

आदिताल में केवल चतुर्मात्रिक एक लघु होता है।

'आदिताले त्वेकलघुश्चतुरक्षरसंमितः'।

इस आदिताल का सकेत ।४ होगा।

इस अलंकार का स्वरूप प० वेंकटमखि ने नहीं दिया है। तथापि वह इस प्रकार होगा—
स रि ग म, रि ग म प, इ० उ० भा० स्वरलिपि—सा रे ग म । रे ग म प । इ०

उपर्युक्त अलंकार तो अभी भी प्रचलित है। परन्तु रक्तिलोम के आकर्षण से वणिकों ने सम, अतीत और अनागत इन तीन ग्रहोंके आधार पर तालों के द्रुत, लघु इत्यादि संकेतों को उल्टा-पुल्टा कर दिया है ऐसा प० वेंकटमखि का कहना है।

> यद्यप्यष्टावलंकारा लक्ष्यवर्त्मनि सप्रति ॥
> उक्तलक्षणमार्गेण दृश्यन्ते नैव कुत्रचित्।
> तथाप्यनागतातीतसमाख्यानग्रहत्रयम् ॥
> अनुसृत्येह वीणायां रक्तिलोभेन वैणिकैः ।
> लघुद्रुतोदरधुना पौर्वापर्यं समाश्रितम् ॥

दाक्षिणात्य सप्ततालों के प्रचलित रूप उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

इस सबंध में स्पष्ट धारणा के लिये दाक्षिणात्य तालपद्धति का सपूर्ण विवरण आवश्यक है। परतु वह विषयातर होगा, इस कारण यहां प्रो० पी० साम्बमूर्ती द्वारा लिखित 'साउथ इण्डियन म्युजिक सिरीज' द्वितीय खण्ड से (१) मुख्य सात तालों के प्रचलित सकेत तथा (२) पृष्ठ ३२ से कुछ अश उद्धृत किया जाता है। निम्नलिखित ताल सकेतों मे आये हुए चिह्नों के नाम ये हैं।

‿ विराम अथवा अनुद्रुत, O द्रुत, । लघु

[१] ताल	सकेत
१ ध्रुव	। O । ।
२ मठ्य	। O ।
३ रूपक	O ।
४ झम्प	। ‿ O
५ त्रिपुट	। O O
६ अठ	। । O O
७ एकताल	।
आदिताल	। ४ O O=४+२+२=८ मात्रा, यह चतस्रजाति त्रिपुट ताल है।

पं० वेंकटमखि के युग में आदिताल चार मात्राओं का माना जाता था। अब वह आठ मात्राओं का ताल है। तालों के रूप कैसे बदले हैं, उसका इसी से पता चलता है।

[२] सप्ततालों के संबंध में धारणा

विशेष संकेत के अभाव में निम्नांकित धारणाएं सर्वमान्य हैं।

		छंद तथा मात्रा	
(१)	ध्रुवताल का अर्थ होता है	चतस्रजाति-ध्रुवताल	४+२+४+४=१४
(२)	मठ्यताल ,, ,, ,, ,,	चतस्रजाति-मठ्यताल	४+२+४= १०
(३)	रूपकताल ,, ,, ,, ,,	चतस्रजाति-रूपकताल	२+४= ६
(४)	झम्पताल ,, ,, ,, ,,	मिश्रजाति झम्पताल	७+१+२= १०
(५)	त्रिपुटताल ,, ,, ,, ,,	तिस्रजाति-त्रिपुटताल	३+२+२= ७
(६)	अठ ताल ,, ,, ,, ,,	खंडजाति-अठताल	५+५+२+२=१४
(७)	एकताल ,, ,, ,, ,,	चतस्रजाति एकताल	४= ४

गमक :—

अलंकार चर्चा के बाद पं० वेंकटमखि गमक के विषय में प्रवेश करते हैं।

स्वर के कम्प को गमक कहा है। 'स्वरस्यकम्पो गमकः'। इस कम्प का श्रोताओं के चित्त के लिए सुखदायक होना आवश्यक है—'श्रोतृचित्तसुखावहः'। पं० शारङ्गदेव ने भी संगीत रत्नाकर में गमक की व्याख्या ऐसी ही की है। स्वरकम्प के श्रोतृचित्त सुखावह होने की आवश्यकता पर उस ग्रंथ के टीकाकार पं० कल्लिनाथ ने पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना चाहा है यह उनके वचनों से स्पष्ट है। यथा—'श्रोतृचित्तसुखावह इत्यनेन विशिष्टस्यैव कम्पस्य गमकत्वमिष्टम्। अन्यथा विपरीतस्यापि तस्य गमकत्वं स्यात्।

गमक के विभिन्न पंद्रह प्रकार गिनाये हैं। (१) तिरिप (२) स्फुरित (३) कम्पित (४) लीन (५) आन्दोलित (६) वलि (७) त्रिभिन्न (८) कुरुल (९) आहत (१०) उल्लासित (११) प्लावित (१२) हुम्फित (१३) मुद्रित (१४) नामित (१५) मिश्रित।

यही नाम सं० रत्नाकर में भी पाये जाते हैं तथा उनका विवरण भी दोनों ग्रंथों में समान है।

डमरू को अत्यंत अल्प परिमाण में ध्वनित करने से उसमें, अर्थात् आच्छादित-चर्मपट में जो सुंदर कंपन होंगे उस सुंदरता के साथ कंपित स्वर की तुलना की है।

तिरिप—सुंदर तथा द्रुत के चतुर्थांश वेग से होनेवाले स्वर कंपन को तिरिप गमक कहा जाता है।

स्फुरित—इस गमक मे कपन द्रुत के तृतीयांश वेग से होता है। स्फुरित गमक का ढोल यह दूसरा नाम भी प्रचलित है। पूर्वाचार्यों के मतानुसार ढोल उस गति को कहते हैं जो मोती के लुठनात्मक चलन में होती है।

द्रुत के अर्धांश वेग से होनेवाले कम्पन को कम्पित गमक कहते हैं।

एक पूर्णद्रुत के वेग से जो कम्पन होता है उसे लीन गमक कहते हैं।

विभिन्न वक्रता के साथ भिन्न भिन्न वेग से होनेवाले कपन को वलि गमक कहते हैं।

यही वलि गमक जब वक्रताहीन अर्थात सहलगति मे होती है तब वह कुरुल गमक कहलाता है।

बिना परिश्रम जब मद्र, मध्य, तार इन तीनों स्थानों में स्वरो का कपन होता है तब उसको त्रिभिन्न गमक कहते हैं।

प्रत्येक स्वर अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर का वेगपूर्ण स्पर्श करते हुए स्वर पक्ति जब आगे की ओर बढ़ती है तब उस क्रिया को उल्लासित गमक कहते हैं।

एक पूर्ण प्लुत के वेग से होनेवाले स्वर कम्प को प्लावित गमक कहते हैं।

हुंकार गर्भित स्वर कम्प हुंफित गमक कहलाता है।

दोनों ओष्ठ परस्पर सटाकर स्वरोच्चारण करने से जो कम्प उत्पन्न होता है उसको मुद्रित गमक कहा जाता है।

मद्र स्थान में अवरोही वर्ण से स्वर कपन करने से नामित गमक होता है।

इन गमकों के पारस्परिक मिश्रण से तैयार होनेवाले गमक मिश्रित गमक कहलाते हैं।*

पारस्परिक सबध की दृष्टि से स्वर चतुर्विध होते हैं। वादी, समवादी, विवादी तथा अनुवादी गीत में बारबार प्रयोग में आनेवाला स्वर-वादी कहलाता है। जिनमें दो स्वरों में आठ अथवा बारह श्रुतियों का फासला होता है, वे परस्पर के सवादी कहलाते हैं। शुद्ध स्वरों में सा म, सा प, रे ध, नि ग और विकृत स्वरों मे साधारण गाधार, कैशिकी निषाद, अतर गांधार काकली निषाद, यह स्वर परस्पर के सवादी हैं। शुद्ध ऋषभ और वराली मध्यम

---

* गमकों के इस शाब्दिक स्पष्टीकरण से उनके रूप प्रत्यक्ष गायन वादन में कैसे होंगे यह समझना असभव-सा ही लगता है। विशेषत जिनके वर्णन में द्रुत, प्लुत जैसे ताल के मात्रा विभाग दर्शानेवाले शब्द आये हैं वहा तो यह समस्या और भी जटिल होती है। अतएव गमकों के ध्वनिरूप का प्रत्यक्ष अनुभव करना हो तो किसी अच्छे गायक वादक की शरण लेना ही उचित है।

तथा शुद्ध मध्यम और शुद्ध निषाद इन स्वर युग्मों में परस्पर फासला आठ श्रुतियों का होते हुए भी वह परस्पर के संवादी नहीं हैं।

जिन दो स्वरों में एक श्रुति का फासला होता है वे परस्पर के विवादी होते हैं। इस तत्व के विकृतों मे साधारण गांधार—अंतर गांधार और कैशिकी निषाद—काकली निषाद परस्पर के विवादी हैं। वादी संवादी और विवादी स्वरों के अतिरिक्त बाकी सब स्वर अनुवादी कहलाते हैं। इन चतुर्विध स्वरों में वादी स्वर राजा के स्थान में, संवादी आमात्य के स्थान में, विवादी शत्रु के स्थान में और अनुवादी भृत्य के स्थान में माने जाते हैं।

अत्यधिक प्रयोग के कारण सर्वत्र प्राधान्य पाने से वादी को राजा की उपमा दी गई है। तद्वत् वादी का अनुसरण करता है इस कारण संवादी आमात्य माना गया है। विवादी में स्वरूप मर्दन करने का दोष होने के कारण उसको शत्रुवत् माना जाता है। तथापि क्षति पहुँचाने की व्यर्थ चेष्टा- करनेवाले उस शत्रु का मर्दन या संहार करने से ही राजा की प्रतिष्ठा वर्धित होती है तद्वत् गति में विवादी द्वारा स्वरूप मर्दन की चेष्टा और वादी द्वारा वह प्रयत्न विफल किया जाना यह वादी विवादी स्वरों का खेल गीत में होने से उसका सौंदर्य बढ़ता है। इस लिये शत्रुतुल्य होते हुए भी विवादी स्वर की आवश्यकता गीत में होती है गीत रचना में वादी तथा संवादी से सहयोग मात्र करते हैं, इस कारण अनुवादी स्वर भृत्यवत् माने गए हैं।

कालिदास द्वारा वर्णित इन्दुमती स्वयम्वर में उल्लिखित प्राचीन भारतीय राज्यों का प्रत्यभिज्ञान

कैलाशनाथ द्विवेदी

संस्कृत—साहित्य को महाकवि कालिदास ने अपनी अद्वितीय काव्य निधि द्वारा अत्यन्त समृद्धि-शाली स्वरूप प्रदान किया है, जिसमें सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक आदि विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित अगाध ज्ञानराशि समाहित है। राष्ट्र की सास्कृतिक एव राजनैतिक एकता की चेतना को स्थायी रूप देने के लिए महाकवि ने अपनी कृतियों में यथास्थान काव्य प्रतिभा के साथ ही राजनैतिक एव भौगोलिक ज्ञान का सदुपयोग किया है।

रघु की दिग्विजय का प्रसग, यदि इस विशाल राष्ट्र की आदर्श सीमा के निर्धारण द्वारा एक शासन सूत्रबद्ध, बृहत्तर भारत की राजनैतिक एकता को प्रतिपादित करने का प्रथम प्रयास है, तो इन्दुमती-स्वयम्वर वर्णन को महाकवि का इस दृष्टि से द्वितीय प्रयास कहा जा सकता है, जिसमें इस 'विशाल राष्ट्र के हृदय राज्य' विदर्भ की राजकुमारी से देश के दूरवर्ती अनेक राज्यों के शासक स्वयम्वर (विवाह) समारोह में समुपस्थित होकर अपना रक्त सम्बन्ध स्थापित करने को उत्सुक हैं। यही कारण है, कवि ने राष्ट्र के राज्यमण्डल के मध्यवर्ती राज्य में ही प्राचीन प्रमुख राज्यों के अधीश्वरों को स्वयम्वर के व्याज से एकत्रित चित्रित किया है। स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल इस सम्वन्ध में लिखते हैं —'इन्दुमती स्वयम्वर में एकत्र राजाओं के रूप में कवि ने देश के मध्य में मण्डलवर्ती भाग की सुदृढ़ एकता की कल्पना की है। यह ऐक्य भाव रक्त सम्बन्ध के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।'[1] वस्तुत है भी ऐसा ही, नहीं तो महाकवि अन्य सीमान्त राज्य मे सम्पन्न होनेवाले किसी स्वयम्वर का वर्णन कर सकते थे। उदाहरणार्थ विदेह राज्य में सीता स्वयम्वर, किन्तु, देश के मध्यवर्ती 'राज्य में इसके विस्तृत न होने के कारण वहाँ इस प्रकार का विशद वर्णन रघुवश एकादश सर्ग में बिल्कुल नहीं किया गया है। जब हम अपने प्रतिपाद्य विषय अर्थात् इन्दुमती स्वयम्वर में भाग लेनेवाले उन भारतीय प्राचीन राज्यों का प्रत्यभिज्ञान प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनके प्रतिनिधि शासक निमन्त्रित होकर विदर्भ या क्रथकैशिक (आतिथेय) राज्य मे पधारे थे। सर्वप्रथम हम इसी राष्ट्र मण्डल मध्यवर्ती आतिथेय राज्य को लेते हैं —

विदर्भ—(क्रथकैशिक) —प्राचीन भारत का केन्द्रीय विशाल राज्य होने के कारण विदर्भ

---

1 भारत की मौलिक एकता—डा० अग्रवाल, पृष्ठ १५४, प्रथम सस्करण

विशेषरूप से विख्यात रहा है तथा प्राचीन साहित्य में२ भी इसका समुल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत में विदर्भ नरेश भीष्मक-पुत्र रुक्मिन् की राज्य सीमा एक ओर नर्मदा नदी और दूसरी ओर अवन्ति राज्य से संलग्न प्रतीत होती है।

महाकवि कालिदास के उल्लेखानुसार ज्ञात होता है कि इस राज्य का दूसरा नाम क्रथ-कैशिक भी था तथा यह भोजवंश द्वारा शासित था। यही कारण है कि इन्दुमती को कवि ने वैदर्भी के साथ ही भोज कन्या (रघु० ७। ३५) एवं भोज्या (रघु० ७। २, १३) तथा उसके भाई (विदर्भ के शासक) के लिए वैदर्भ (रघु ५। ६२, ७।१७, ३०), विदर्भनाथ (रघु० ७।१) कहने के अतिरिक्त भोज (रघु० ५। ३९, ७। १८), भोजपति (रघु० ७। २०), भोजकुल

२. वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धा०, ४१। ११ विदर्भान्ऋषिकांश्चैव......

प्रदीप३ (रघु० ७ । २९) आदि अभिधानों का प्रयोग किया है। यह राज्य अपनी सुन्दर समृद्धि, श्रेष्ठ प्रशासन के लिए प्रसिद्ध था (रघु० ५ । ६० सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्)। विदर्भ की तत्कालीन राजधानी कुण्डिनपुर या कुन्दिनपुर का भी स्पष्टतया कवि ने उल्लेख किया है, जो वर्तमान कुन्दनपुर (अमरावती से लगभग ४० मील पू०) से भिन्न नहीं ज्ञात होती है।

इन्दुमती स्वयम्वर से सम्बन्धित जिस विदर्भ (क्रथकैशिक) के भोजवंशी शासक का उल्लेख है, वह शिलालेखों अथवा ऐतिहासिक तथ्यों के अनुकूल नहीं प्रतीत होता है।४ इतिहास का सुप्रसिद्ध वाकाटक वंशीय शासन तो अवश्य ही ई० चौथी—पाँचवीं शती के आस-पास दकन (विदर्भ) में प्रभुत्वशाली रहा। जो शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य से भी स्वतन्त्र रह कर उससे रक्त सम्बन्ध स्थापित (रुद्रसेन का चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती के साथ विवाह) करने में भी सफल हुआ था। इन वाकाटक नरेशों ने कुछ भूप्रदेश दान या भेंट में भी दे दिया था, जिसमें चर्मांनक (वर्तमान चम्मक, एलिचपुर के पास ४ मील द० प०) उल्लेखनीय है जो भोजकट राज्य में ही स्थित माना गया है। विष्णुपुराण के अनुसार यह प्रदेश (भोजकट जिसमें चरमनक या चम्पक स्थित है) उस विदर्भ राज्य से भिन्न नहीं है, जिसके शासक भीष्मक थे। यह तथ्य हरिवंश पुराण५ (श्लो० ५०१६, कलकत्ता १८३९ में प्रकाशित) से भी प्रमाणित होता है कि भोजकट६ प्रदेश विदर्भ राज्य का प्रमुख भाग है।

प्रतीत होता है कि भोजकट राज्य प्राचीन विदर्भ के केन्द्रीय प्रमुख भाग के रूप में कभी भोजवंशीय शासकों की सत्ता का प्रधान केन्द्र रहा होगा, किन्तु सम्राट अशोक के समय में भोज वंशीय लोगों का अस्तित्व विन्ध्य की पश्चिमी शृंखलाओं पर भी था (तेरहवें शिलालेख के आधार पर)ऐसा ज्ञात होता है। विदर्भ से अभिन्न भोजकट राज्य की सीमा, उ० प० में विन्ध्य श्रेणियों या नर्मदा नदी तक विस्तृत थी। मालविकाग्निमित्रम् में कवि ने इसकी उत्तरी सीमा को विदिशा के आस पास के शासनक्षेत्र (शुंग साम्राज्य) से प्रभावित होने का स्पष्ट संकेत किया है (मालविका० १ । ७ के बाद), जिसमें विदर्भ को अग्निमित्र के शासन का पड़ोसी

---

३ रघु० ५ । ३९, ६१, ७ । २९ भोजकुल प्रदीप, ७ । ३२ मत्तापि तावत्क्रथकैशिकानां रघु० ७ । ३३ तस्मादुपावर्तत कुण्डिनेश

४ The Chammak & Siwani grants C I I III Nos 55-56 Dudia grants ed by Kielhorn Ep Ind III No 35 P 285 C I I III No 35

५ विष्णुपुराण विल्सन द्वारा अनु०, भाग ५ पृ० ६९, ७१

६ भोजकट राज्ये

राज्य होने के कारण 'स्वाभाविक शत्रु' कहा है, साथ ही विदर्भ के इस राज्य से पराभूत होने का उल्लेख है (मालविका० ५ । १, २, ३)। शुंग साम्राज्य की संरक्षता में विदर्भ को दो भागों में विभाजित कर यज्ञसेन और माधवसेन का क्रमशः वरदा नदी के उत्तर—दक्षिण में प्रशासन कार्य सम्हालने का उल्लेख है७। अतः प्रतीत होता है कि तत्कालीन विदर्भ (क्रथकैशिक) राज्य का विस्तार पश्चिम पूर्व की अपेक्षा उत्तर दक्षिण में अधिक विस्तृत था तथा वरदा (वर्तमान वर्धा, पेन गंगा की सहायक) नदी यहां की मुख्य नदी थी, जिसे कवि ने (माल० ५ । १३) राज्य की आन्तरिक विभाजक रेखा माना है। महाकवि के समय में सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक व्यापारिक समृद्धि के केन्द्र उज्जयिनी और विदिशा नगर थे, जिनसे विदर्भ का पारस्परिक व्यापार होता था। विदिशा को जानेवाले विदर्भ के व्यापारी वर्ग का विन्ध्य-श्रेणियों के वन्यमार्ग में दस्युओं द्वारा लूटे जाने का भी उल्लेख किया है८। अतः ज्ञात होता है कि विदिशा (दशार्ण राज्य की राजधानी पूर्व मेघ २६-२७) तथा दशार्ण राज्य इसके उत्तरी सीमावर्ती थे।

कालिदास ने विदर्भ तथा क्रथकैशिक को समानार्थ में ग्रहण किया है, जब कि उनके परवर्ती राजशेखर क्रथकैशिक को दक्षिणापथ के राज्यों में विदर्भ से भिन्न स्वीकार करते हैं९। महाभारत के एक प्रसंग के अनुसार१० विदर्भ देशीय राजा ने इस राज्य को अपने उत्तराधिकारी क्रथ और कैशिक नाम के पुत्रों के मध्य विभाजित कर उत्तराधिकार रूप में सौंप दिया था। सम्भव है राजशेखर के समय (९वीं शतो) में यह भाग विदर्भ से पृथक् गिना जाता हो, किन्तु कवि के अनुसार इसे विदर्भ से अभिन्न ही समझना उचित है।

कतिपय वर्तमान विद्वानों ने११ (जिनमें डी० सी० सरकार तथा नन्दलाल डे प्रमुख हैं) विदर्भ को वर्तमान बरार तथा उसके आस-पास का प्रदेश स्वीकार किया है।

किन्तु यह प्राचीन विदर्भ का अत्यन्त संकुचित रूप प्रतीत होता है, क्योंकि इस भाग को

---

७. मालविका० ५ । १३ तौ पृथक् वरदाकूले शिष्टानुत्तरदक्षिणे

८. मालविका० ५ । १० तथा इसके पूर्वा पर, परिव्राजिका—"स चाटव्यन्तरे निविष्टो गताध्वा···वणिग्गणाः" पृ० ३४८ सं० सीताराम चतु० (का० ग्रं०) काशी

९. काव्यमीमांसा, पृ० २२६, सं० केदारनाथ शर्मा, पटना, १९५४, विदर्भकुन्तल क्रथकैशिक—"

१०. महाभारत, सभापर्व, २१२वां अध्याय

११. स्टीडज इन दि ज्याग्रा० आफ एंशेण्ट एण्ड मेडिएवल इण्डिया, डी० सी० सरकार, पृ० ३०, ज्याग्राफिकल डिक्शनरी आफ एंशेण्ट एण्ड मेडिएवल इण्डिया पृ० १३०, कलकत्ता

यदि दक्षिण-कोशल (कुश द्वारा शासित राज्य-रघु० १५-१६ सर्ग) के अन्तर्गत ग्रहण करने पर अवशेष विदर्भ का अस्तित्व ही क्या रह जावेगा ? अत महाकवि के विदर्भ राज्य को नर्मदा की मध्यवर्ती घाटी के दक्षिणी भाग से लेकर गोदावरी कृष्णा के मध्य भाग तक विस्तृत मानना उपयुक्त है। इस भू-भाग के अन्तर्गत प्राचीन खण्डेश, बरार, हैदराबाद (रियासत का आधे से अधिक भाग) सम्मिलित किया जा सकता है, जो अगत अब महाराष्ट्र मध्यप्रदेश और आन्ध्रप्रदेश के अन्तर्गत है। महाकवि के अनुसार इसकी तत्कालीन सीमा पू० में द० कोशल — कलिंगराज्य, पश्चिम में अनूप, जनस्थान, एव उत्तर मे नर्मदा नदी, दशार्ण राज्य तथा दक्षिण में कृष्णा नदी का होना सभव है। मालविकाग्निमित्रम् (५।१३) के अनुसार यदि इस राज्य को वरदा (वर्तमान वर्धा) नदी से उत्तर दक्षिण दो भागों मे विभाजित करें तो उत्तरी भाग की प्रधान नगरी अमरावती और दक्षिण की प्रतिष्ठान (पैठन) प्रमुख रहीं होगी किन्तु कालिदास ने इस स्वयम्वर मे सगठित, एक शासनसूत्रबद्ध विदर्भ या क्रथकैशिक की राजधानी कुण्डिनपुर (वर्तमान कुन्दनपुर, अमरावती से ४० मील) का उल्लेख किया है, अत इसे ही राजधानी मानना उचित है।

उत्तर कोशल—तत्कालीन शक्ति सम्पन्न भारतीय प्रभु राज्यों में उत्तरकोशल का प्रमुख स्थान था, जिसके रघुवशी शासक दिग्विजयी होने के कारण सम्पूर्ण देश में विख्यात थे। यही कारण है कवि ने स्पष्ट रूप से विदर्भराज द्वारा उत्तरकोशल के शासक रघु के पास प्रेषित इन्दुमती स्वयम्वर का निमत्रण ले जानेवाले दूत का उल्लेख किया है (रघु० ५। भोजेन दूतो रघवे विसृष्ट) प्रतीत होता है कि, प्राचीन कोशल भारतीय एकसघ राज्य से भिन्न नहीं था, जो आन्तरिक रूप में दो शासन क्षेत्रों में विभक्त होकर प्रशासित होता था—उत्तर कोशल तथा कोशल (द० कोशल)। यह रूप होने पर भी प्रभुता उत्तर कोशल की ही थी, जिसकी राजधानी का अयोध्या या साकेत से ही प्रशासन होता था। यही कारण है कि कवि ने कोशल के राज्य (द० शासित प्रदेश) शासक द्वारा अपनी राजकन्या (कौशल्या) का विवाह उत्तर कोशल (सगठित सम्पूर्ण कोशल राज्य) के सत्तासम्पन्न स्वामी दशरथ के साथ करने का उल्लेख किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस शक्तिशाली सघ राज्य में सामयिक प्रशासन सम्बन्धी आन्तरिक परिवर्तन भी होते रहे हैं। इसका सकेत स्पष्टतया श्री रामचन्द्र के पश्चात् लवकुश के उत्तराधिकार प्रसग में किया गया है। उत्तर कोशल की ही नहीं अपितु सम्पूर्ण कोशल सघ राज्य की राजधानी अयोध्या का स्थान, विभाजन होने पर दो नवीन राजधानियां शरावती (श्रावस्ती) तथा कुशावती ग्रहण करती हैं, जो क्रमश लव और कुश के शासन-प्रदेशों (उत्तर कोशल और

दक्षिण कोशल) की नवीन राजधानियों के रूप में सामने आती हैं।१२ दक्षिण कोशल राज्य का विस्तार विन्ध्य श्रेणियों के सुदूर दक्षिण से उत्तर में गंगा नदी तक दशार्ण, विदर्भ की सीमा से लेकर उत्कल कलिंग सीमा के मध्यवर्ती ऐतिहासक महाकोशल राज्य (बरार तथा गोंडवाना क्षेत्र)से अभिन्न प्रतीत होता है।

मार्क कालिन्स के अनुसार उत्तर कोशल (द०) कोशल राज्य के उत्तरीशासन के गृह प्रदेश से भिन्न नहीं है१३। डा० धीरेन्द्र वर्मा अवध से भिन्न किन्तु स्वतंत्र अस्तित्ववाला राज्य इसे मानते हैं, जिसकी राजधानी पहले अयोध्या किन्तु बाद में (बौद्ध काल में) श्रावस्ती (वर्तमान गोण्डा जिले में राप्ती नदी के किनारे) राजधानी हो गई थी। इस राज्य का विस्तार पूर्व में विहार की गण्डकी नदी तक है। यहां की अवधी बोली आज भी पृथक् है१४। डी० सी० सरकार के मत से यह राज्य कोशल से सर्वथा भिन्न है,१५ उत्तर कोशल लव के उस शासन प्रदेश से अभिन्न है, जिसकी राजधानी शरावती (श्रावस्ती वर्तमान सहेत-महेत)थी१६।

वस्तुतः उत्तर कोशल (द०) कोशल के शासन का उत्तरी प्रदेश था। इसका विस्तार यद्यपि अवध खण्ड को दृष्टि में रखते हुये वहुत संकुचित प्रतीत होता है, किन्तु प्रभुत्व रघुदिग्विजय के अनुसार ऐतिहासिक गुप्त वंशीय सम्राट समुद्रगुप्त के शासन से भी अधिक परिलक्षित होता है। यद्यपि कवि ने इस शासन (जिसकी शक्ति प्रधानतया मगध राज्य में केन्द्रित थी) की प्रशंसा भी परोक्षरूप में की है, (कामं नृपाः सन्तु—से) सामान्यतया उत्तर कोशल में अवध खण्ड ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु कवि के अनुसार इसका विस्तार और अधिक होना चाहिये। इस दृष्टि से उत्तर कोशल वर्तमान उ० पू० उत्तर प्रदेश के क्षेत्र से भिन्न नहीं कहा जा सकता, जिसका विस्तार उत्तर में राप्ती नदी—नैपाल की सीमा तथा दक्षिण में गंगा नदी, पूर्व में विदेह (उ० विहार) पश्चिम में पाँचाल (गंगा रामगंगा का बेसिन) राज्य तक था।

मगध :—इस राज्य का उल्लेख प्राचीन साहित्य एवं इतिहास में समुपलब्ध होता है,

---

१२. रघु० ९। १७ तमलभन्त पति पतिदेवता - मगध कोशलकेकय शासिनां दुहितरो—

१३. रघु० १५। ९७ स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागांकुशं कुशम्। शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम्

१४. ज्याग्राफिकल डेटा आफ दि रघुवंश एण्ड दशकुमारचरित्र पृ० १८, १९०७

१५. मध्यदेश, डा० धीरेन्द्र वर्मा पृ० १७—१८, वि० रा० परि० पटना, १९५५

१६. स्टडीज इन दि ज्याग्रा० आफ एंशेण्ट एण्ड मेडि० इण्डिया, पृ० १२१, दिल्ली, १९६०, सरकार

जिसके अनुसार इसका विस्तार गंगा के दक्षिण प्रतीत है[१७]। इन्दुमती स्वयम्वर में भाग लेनेवाले इस राज्य के शासक का उल्लेख कवि ने किया है[१८]। ऐसा प्रतीत होता है कि यह राज्य तत्कालीन सभी राज्यों से अधिक शक्तिशाली एवं प्रभुता सम्पन्न था। इसकी राजधानी पुष्पपुर (ऐतिहासिक, प्रसिद्ध पाटलिपुत्र, वर्तमान पटना के दो मील पश्चिम में प्राचीन) नगर होने का भी कवि ने स्पष्ट उल्लेख किया है[१९]। उत्तर कोशल तथा मगध दोनों समान शक्तिशाली राज्यों में पारस्परिक रक्त-सम्बन्ध था, इस ऐतिहासिक तथ्य का कवि ने उल्लेख किया है। राजा दिलीप की ज्येष्ठ रानी सुदक्षिणा (रघु० १। ३१) तथा सम्राट् दशरथ की कनिष्ठा रानी सुमित्रा (रघु० ९ १ ९) मगध की ही राजकन्याएँ थीं। फिर भी मगध आगे चल कर सम्राट् बिम्बिसारके समय से कोशल की अपेक्षा बहुत शक्तिशाली हो गया था। यही कारण है कि कोशल के राजा प्रसेनजित ने अपनी पुत्री का विवाह बिम्बिसार के साथ सम्पन्न किया। कवि के समय (गुप्तकाल) में तो मगध सबमें प्रधान शक्ति-सम्पन्न विशाल शासन का केन्द्र ही था।

जनरल कनिंघम प्राचीन मगध को प्रधानतया बिहार के पटना और गया जिले से अभिन्न स्वीकार करते हैं। श्री डी० सी० सरकार उस राज्य को बनारस और मुंगेर जिलों के मध्य विस्तृत मानते हैं, जो वर्तमान द० बिहार से भिन्न नहीं है[२०]। इस भूप्रदेश के अन्तर्गत पटना और गया जिले का क्षेत्र आता है, जो प्राचीन मगध का रूप निर्धारित करता है।

सामान्यतया प्राचीन मगध का विस्तार गंगा के दक्षिण में ही प्रतीत होता है, जिसके पूर्व में अंग राज्य (वर्तमान भागलपुर जिले के आस पास का क्षेत्र) तथा वंग राज्य, पश्चिम में चेदि दशार्ण उत्तर में गंगा—विदेह राज्य तथा दक्षिण में सुह्म—उत्कल राज्य इसकी सीमायें थीं।[२१] शोण या हिरण्यबाहु नद इस राज्य के क्षेत्र से प्रवाहित होकर, इसकी राजधानी पुष्पपुर (पाटलिपुत्र, वर्तमान पटना के पास दो मील पश्चिम) के समीप गंगा में गिरता था। यह संगम अब आगे पूर्व को बढ़ा प्रतीत होता है। अत पटना और गया को प्रधानतया मगध राज्य का क्षेत्र कहा जा सकता है। आज भी पटना जिले के लोग लोकभाषा में इसे 'मगह'

---

१७ वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा०, ४०। २२ तथा महाभारत, सभा०, अध्याय २४

१८ रघु० ६। २१

१९ वही ६। २४

२० एशेंट ज्याग्रा० आफ इण्डिया (कनिंघम) स० एस० एन० मजूमदार, पृ० ५१८ कलकत्ता

२१ स्टडीज इन दि ज्या० आफ एशेंट एण्ड मेडि० इण्डिया, पृ० ९९, दिल्ली, १९६०

कहते हैं जो मगध शब्द का अपभ्रंश रूप है। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार वर्तमान मगही बोली प्राचीन मगध की सीमाओं का संकेत करती है। मगधी शब्द उनके अनुसार आज भी 'मगही पान' के नाम में चल रहा है२२। पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) के अतिरिक्त राजगृह भी मगध की प्राचीन राजधानी रहा है।

अंग :—यह प्राचीन भारत का प्रसिद्ध राज्य रहा है। रामायण के लोमपाद तथा महाभारत के कर्ण का शासन प्रदेश अंग ही था, जिसकी राजधानी चम्पा (चम्पारन या मालीनी, वर्तमान भागलपुर के पास) प्रतीत होती है। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार अंग का सम्बन्ध कदाचित् अनुजन या आनवों से था जो पंजाब के केकय जनपद के संस्थापक थे२३। अंग विशाल मगध राज्य का पड़ोसी मित्र राज्य ज्ञात होता है, क्योंकि दोनों राज्यों के शासक साथ ही साथ विदर्भ की स्वयम्वर-भूमि में पधारे थे तथा पड़ोसी होने के कारण वहां समीपस्थ मंच पर आसीन हुये थे। मगध राज के पश्चात् राजकुमारी को अंग राज हो मिले थे२४। विस्तार में छोटा होने पर भी प्रतीत होता है कि शक्ति में यह राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा प्रभुत्व में कम नहीं था।

बौद्ध साहित्य में अंग राज की स्थिति भागलपुर और मुंगेर जिलों के आस पास के क्षेत्र से व्यक्त होती है तथा इस राज्य की भूमि तत्कालीन (६०० ई० पू० के लगभग) भारत के १६ राजनैतिक विभागों में से एक थी२५।

अंग राज्य मगध और बंग के मध्य में विस्तृत था, जिसमें गंगा के दक्षिण का वह भू प्रदेश जो वर्तमान भागलपुर तथा मुंगेर जिलों के आस-पास तक सीमित है, सम्मिलित किया जा सकता है। सम्भवतः सुह्म राज्य (वर्तमान दामोदर नदी की मध्य घाटी के द० पू० का क्षेत्र) इस राज्य की दक्षिणी सीमा थी।

अवन्ति :—अंग राज्य के शासक को देखने के पश्चात इन्दुमती को प्रतिहारी सुनन्दा अवन्ति राज्य के स्वामी के समीप ले गई और उनकी प्रशस्ति सुनाने लगी, जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि इसकी तत्कालीन राजधानी उज्जयिनी थी, क्योंकि कवि ने इस प्रसंग में

---

२२. मध्यदेश, धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १८, पटना १९५५

२३. वही

२४. रघु० ६। २७ जगाद चैनामयमंगनाथो०.........

२५. अंगुत्तर, १। ४, विनय टेक्स्ट, द्वितीय भाग, पृ० १४६, गोविन्द सुत्त, दीघनिकाय अध्याय १९

महाकाल मन्दिर[२६], शिप्रा नदी की तरंगों के सस्पर्श करनेवाले शीतल पवनयुक्त उपवनों का[२७] उल्लेख किया है, जो उज्जयिनी मे ही सम्भव है। मेघदूत में स्पष्ट रूप से अवन्ति राज्य तथा उसकी वैभवमयी राजधानी विशाला या उज्जयिनी का उल्लेख किया है। पूर्व मेघ ३२ प्राप्यावन्तीनुदयन— — पुरीं श्री विशालाम् विशालाम्। जहा शिप्रा नदी की ओर से आनेवाले शीतल पवन[२८] तथा चण्डीश्वर धाम (महाकाल मन्दिर) और गन्धवती नदी का सुन्दर उल्लेख प्राप्त होता है।

अवन्ति मालवा प्रदेश का प्राचीन नाम है, जो लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी से परिवर्तित हुआ प्रतीत होता है। वैसे यह राज्य ऐतिहासिक मौर्य राजाओं से लेकर गुप्त राजाओं के साम्राज्य का भी प्रधान केन्द्र रहा है तथा उनके युवराज उज्जयिनी को ही राजधानी बनाकर यहा पर शासन करते रहे।[२९] सभवत शुग शासन काल (२०० ई० पू०) में मालवा (अवन्ति) की राजधानी उज्जयिनी न होकर विदिशा ही थी। जिसका शासक अग्निमित्र था, जिसे कवि ने अपने मालविकाग्निमित्रम् का नायक बनाया है। बाणभट्ट ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है[३०]।

अवन्ति को श्री डी० सी० सरकार ने उज्जैन के आस पास के प्रदेश वर्तमान ग्वालियर तक विस्तृत स्वीकार किया है[३१]। डा० धीरेन्द्र वर्मा इसे पश्चिमी मालवा से अभिन्न मानकर मध्य देश में ही इस राज्य को निधारित करते हैं[३२]। प० केदारनाथ शर्मा का भी यही मत है[३३]।

समीक्षा —प्राचीन अवन्ति राज्य, मालवा प्रदेश का वह भाग माना जा सकता है, जो वर्तमान ग्वालियर से इन्दोर जिले (नर्मदा नदी के तट) तक विस्तृत है। पू० प० मे इसका विस्तार वेतवा और चम्बल नदियो के मध्य में अर्थात् प्राचीन अनूप और दशार्ण राज्यो के बीच में प्रतीत होता है। उज्जयिनी (वर्तमान उज्जैन) ही इसकी राजधानी थी,

---

२६ रघु० ६। ३४ असौ महाकालनिकेतनस्य०—तथा पू० मे०, ३७-३८ त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य०

२७ रघु०६। ३५ शिप्रातरंगानिल कम्पितासु—तथा पू० मे० ३३—शिप्रावात प्रियतम इव

२८ वही

२९ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, स्मिथ, पृ० १६३

३० कादम्बरी पूवार्ध—मज्जन्मालवविलासिनी—विदिशाभिधाना नगरी राजधान्यासीत्

३१ स्टडीज इन दि ज्या० आफ एंशेण्ट एण्ड मे० इण्डिया, पृ० ९० दिल्ली, १९६०

३२ मध्यदेश, डा० धीरेन्द्र वमा पृ० १९, पटना १९५५

३३ काव्यमीमासा, पृ० ३२३ पटना १९५४ परिशिष्ट

जो राजनैतिक, व्यापारिक तथा धार्मिक दृष्टियों से अन्य राज्य के नगरों की अपेक्षा बढ़ी चढ़ी थी। आज भी यहां महाकालेश्वर का मन्दिर रमणीय शिप्रातट पर विद्यमान है।

अनूप :—अवन्ति राज्य के अधीश्वर को देखने के पश्चात सुन्दरी सुनन्दा इन्दुमती को अनूप राज्य के शासक के पास ले गई३४। उसकी प्रशस्ति के आधार पर ज्ञात होता है कि यह राज्य पौराणिक परम्परा के अन्तर्गत हय वंशीय क्षत्रिय राजाओं द्वारा शासित था। महाकवि ने अनूप और अवन्ति राज्यों के शासकों का एक साथ (सम्भवतः पड़ोसी मित्र राज्य होने के कारण) उल्लेख किया है। कवि के अनुसार अनूप राज्य की राजधानी माहिष्मती (वर्तमान नीमाड़ जिले का मानधाता, जो इन्दौर से लगभग ४० मील दक्षिण में स्थित है), जो रेवा नदी के दाहिने तट पर स्थित थी। यह रेवा तटीय राज-नगरी अपनी नैसर्गिक रमणीयता के लिये विशेष रूप से विख्यात थी। माहिष्मती के राज-प्रासाद के झरोखों से देखने पर रसिक महाकवि ने वक्र प्रवाहित रेवा की कल्पना इस राजनगरी की करधनी से की है३५। प्रतीत होता है नर्मदा नदी अनूप की दक्षिणी प्राकृतिक सीमा बताती थी।

श्री के० एम० मुंशी के मतानुसार प्राचीन अनूप (कार्तवीर्य के समय) की सीमा पूर्व में चर्मण्वती (चम्बल) नदी, पश्चिम में (अरब) समुद्र, उत्तर में आनर्त (वर्तमान उत्तरी गुजरात का भूभाग) तथा दक्षिण में नर्मदा नदी थी३६। माहिष्मती की स्थिति उनके अनुसार भृगुकच्छ (वर्तमान भडौंच) से लगभग १०-१२ मील थी। इन दोनों प्राचीन नगरों की स्थिति व्यापारिक तथा राजनैतिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण थी। श्री सरकार इस राज्य को नर्मदा के उत्तरी तट तक विस्तृत मानते हैं३७।

समीक्षा :—वस्तुतः अनूप राज्य प्राचीन भारत का छोटा, किन्तु परम प्रसिद्ध राज्य है। श्री मुंशी ने जो सीमा निर्धारित की है, वह पर्याप्त रूप में तथ्यपूर्ण कही जा सकती है, किन्तु, वैदिककालीन आख्यान से सम्बन्धित होने के कारण पुराणकालीन अनूप के स्वरूप में थोड़ा बहुत अन्तर आना स्वाभाविक है। पूर्व में जो चम्बल नदी उन्होंने इसकी सीमा बताई है, वह इसकी ऊपरी घाटी से अभिन्न होनी चाहिये। सामान्यतया यही अवन्ति और अनूप पड़ोसी राज्यों की भी प्राकृतिक सीमा प्रतीत होती है।

---

३४. रघु० ६। ३७ तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य........

३५. रघु० ६। ४३ माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्।

३६. भगवान परशुराम, के० एम० मुंशी, प्रस्तावना, पृ० १२-१३ दिल्ली, १९५३।

३७. स्टडीज इन दि ज्याग्रा० आफ एंशेण्ट एण्ड मे० इण्डिया, पृ० ३५ दिल्ली १९६०।

शूरसेन —इस राज्य के शासक का उल्लेख महाकवि ने अवन्ति राज्य के अधीश्वर के पश्चात् सुनन्दा द्वारा ही कराया है३८, जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि यह भी एक प्रसिद्ध प्राचीन राज्यों में प्रमुख स्थान रखनेवाला राज्य था। इसका नामकरण यादववंशीय वसुदेव और कुन्ती के पिता शूर के नाम के आधार पर ही हुआ है। महाभारतकालीन शक्तिशाली राज्यों में इसकी भी गणना की जाती है।

यह राज्य मथुरा तथा उसके आसपास के जिलों के क्षेत्र में विस्तृत प्रतीत होता है, क्योंकि महाकवि ने जो परम्परारूप में इसका उल्लेख किया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन शूरसेन राज्य की मथुरा ही राजधानी थी। जिसके राजभवन ठीक यमुना तट पर बने हुये थे, क्योंकि वहा के अन्तःपुर की सुन्दरियों के यमुना मे जल विहार का कवि ने संकेत किया है। इस राज्य के अन्य रमणीय स्थान वृन्दावन (मथुरा से लगभग ६ मील उत्तर) जो आज भी अपने सुन्दर कुञ्जों, रमणीय उपवनों के लिये विख्यात है) तथा गोवर्धन (वर्तमान गोवर्धन ग्राम के समीप की पहाडी जो मथुरा—डीक रोड पर मथुरा से लगभग १८-१९ मील दूर है) गिरि की रमणीय कन्दराओं एव सुन्दर शिला तलों का उल्लेख किया गया है। आज की तरह उस समय भी विशेष रूप से प्रसिद्ध थे३९।

डा० धीरेन्द्र वर्मा शूरसेनी बोली के आधार पर इस राज्य को आगरा डिवीजन के ब्रज प्रदेश से अभिन्न मानते हैं, जो मथुरा के आस पास विस्तृत है४०। इसके उत्तर में कुरू राज्य (वर्तमान मेरठ के आस पास का क्षेत्र), दक्षिण मे चम्बल नदी तथा मत्स्य राज्य पश्चिम में ब्रह्मावर्त और पूर्व में पांचाल (गगा—राम गगा मध्यवर्ती क्षेत्र) राज्य इसकी सीमा रूप में निधारित कर सकते हैं।

कलिंग —शूरसेन राज्य के शासक सुषेण का साक्षात्कार करा कर सुनन्दा सुन्दरी इन्दुमती को कलिंग नरेश के समक्ष ले जाकर उनका यशोवर्णन करने लगती है (रघु ६।५३)। जिसके अनुसार इसी राज्य में महेन्द्र पर्वत की स्थिति स्पष्टतया व्यक्त की गई है४१ तथा इसकी पूर्वी सीमा पूर्वोदधि (वर्तमान बगाल की खाड़ी) होने से यह पूर्वोदधि कलिंग राज्य के अधिकार

---

३८ रघु० ६। ४५ स शूरसेनाधिपतिं सुषेण०

३९ रघु० ६। ४८ कलिन्द कन्या मथुरागतापि गंगोर्मिससक्तजलेवभाति

४० रघु० ६। ५० मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये—वृन्दावने चैत्ररथादनूने, ६। ५१, अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि

४१ मध्यदेश, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पटना, १९५५, पृ० १८

में था इस तथ्य को कवि ने रघु दिग्विजय में भी व्यक्त किया है (रघु ४ । ३८-४४ तक) । पूर्वोदधि तटवर्ती कलिंग की सीमा सुन्दर-ताली, नारियल, सुपारी आदि वृक्षों के वनों से विशेष रमणीय प्रतीत होती थीं४२ । सागर तट के इसी प्राकृतिक आकर्षक सौन्दर्य के कारण तथा व्यापारिक दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर इसकी राजधानी (सम्भवतः दन्तपुर या राजपुर) विशेषरूप से उसके राजभवन सागर तट के रमणीय वातावरण में स्थित थे, जहां से समुद्री लहरों का मनोरम दृश्य सरलता से देखा जा सकता था, समुद्रगर्जन ध्वनि सुनी जा सकती थी ।४३ स्वयम्वर में सुनन्दा ने कलिंग के इसी सागर तट की रमणीयता में नित्य विहार करने के लिये आकर्षित किया था (रघु ६ । ५७) ।

अन्य राज्यों की भांति कलिंग इस राष्ट्र का बहुत विशाल प्राचीन तथा प्रसिद्ध राज्य है, जिसका प्रायः बंग के साथ प्राचीन साहित्य में उल्लेख हुआ है४५। जनरल कनिंघम (महाभारत, वन पर्व, अध्याय १४ के आधार पर) इस राज्य की उत्तरी सीमा वैतरणी नदी तथा दक्षिणी सीमा गोदावरी या विजगापट्टम नगर तक निर्धारित करते हैं४६ । पौराणिक आधार पर ४७ इसकी दक्षिणी पश्चिमी सीमा-गोदावरी, तथा उत्तरी पश्चिमी नर्मदा—शोण का उद्गम (अमरकण्टक पर्वत) प्रदेश ग्रहण किया जा सकता है ।

रैप्सन के मत से कलिंग राज्य महानदी के उत्तर से लेकर दक्षिण में गोदावरी नदी तक विस्तृत था४८, किन्तु श्री डी० सी० सरकार के विचार से यह राज्य मुख्यतया वर्तमान उड़ीसा के पुरी और गंजाम जिलों के आस पास के क्षेत्र से भिन्न नहीं है४९।

---

४२. रघु० ६ । ५४ असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिः महेन्द्रस्य महोदधेश्च, रघु ४ । ३९

४३. रघु० ६ । ५७ विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु, रघु ४ । ४४ वेलातटेनैव फलवत्-पूगमालिना

४४. रघु० ६ । ५६ यमात्मनः सद्मनि संनिकृष्टो··· ··· ···प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव ।

४५. वाल्मी० रामा०, किष्किन्धा ०, ४१ । ११ बंगा कलिंगाश्च० — —

४६. ज्याग्राफी आफ एंशेण्ट इण्डिया, सं०-एस० एन० मजुमदार, पृ०, ५९० कलकत्ता, १९२४

४७. कूर्म पुराण, द्वितीय भाग, ३९ । १९

४८. एंशेण्ट इण्डिया, रैप्सन, पृ० १६४

४९. स्टडीज इन दि ज्याग्रा० आफ एंशेण्ट एण्ड मेडी० इण्डिया पृ० ३०, दिल्ली, १९६०

कामरूप प्राचीन भारत का प्रसिद्ध उत्तरी पूर्वी सीमान्त राज्य, प्राचीन साहित्य में इसका उल्लेख पाया जाता है, जिसके आधार पर इसकी राजधानी 'प्राग्ज्योतिषपुर' ही निर्धारित की जा सकती है। महाभारत इसके लिये 'चीन' शब्द प्रयुक्त करता है, जहां का राजा उस समय भगदत्त था। (महाभारत, सभा० ३४-४१) कौटिल्य ने भी इसके लिये 'चीन' शब्द का प्रयोग किया है और यहां के 'सुवर्ण-कुण्ड्य' नाम ग्राम का भी उल्लेख किया है५७। कुछ पुराण भी कामरूप की राजधानी प्राग्ज्योतिष को निर्धारित करते हैं५८।

मार्क-कालिस के अनुसार कामरूप और प्राग्ज्योतिष पृथक् पृथक् राज्यों के रूप में ग्रहण किये जाने चाहिये, उन्होंने दोनों को पर्याय समझने में भी अपना वैमत्य व्यक्त किया है५९। श्री डी० सी० सरकार के मत से कामरूप वर्तमान आसाम से अभिन्न है, जिसका मध्यवर्ती भाग प्राग्ज्योतिष (वर्तमान गोहाटी के आस-पास का क्षेत्र) इसी के अन्तर्गत था६०, जो ह्वेन सांग के अनुसार करतोया के पूर्व में विस्तृत था। डा० भगवत शरण उपाध्याय भी कामरूप को वर्तमान आसाम तथा प्राग्ज्योतिष को वर्तमान गौहाटी से अभिन्न स्वीकार करते हैं६१।

रघु० ४। ८१-८४ के मूल पाठ को मार्क कालिस ने भ्रमात्मक रूप में ग्रहण कर प्राग्ज्योतिष और कामरूप को भिन्न राज्यों के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु प्राचीन सामग्री के आधार पर प्राग्ज्योतिष (वर्तमान गोहाटी) कामरूप के ही अन्तर्गत था। इसका विस्तार प० में गोपालपाड़ा (ग्वाल पाडा) जिले से पूर्व में तेजपुर तक, उत्तर में भूटान-नेफा सीमा से लेकर दक्षिण में खासी और ज्यन्तिय तक प्राचीन कामरूप के रूप को ग्रहण किया जा सकता है। ब्रह्मपुत्र नदी इस राज्य के मध्य से प्रवाहित होती है तथा प्राग्ज्योतिष (वर्तमान गोहाटी) को इसकी राजधानी कह सकते हैं। कवि ने इस राज्य में कालागुरु (रघु ४। ८१) तथा हाथियों (४। ८३-८४) के होने का तथ्यपूर्ण उल्लेख किया है।

उपसंहार,—इस प्रकार महाकवि कालिदास द्वारा वर्णित इन्दुमती स्वयम्वर में उल्लिखित प्राचीन भारतीय राज्यों के प्रत्यभिज्ञान का प्रयास प्रस्तुत लेख में किया गया है, जिससे उनकी प्राचीन सीमायें एव क्षेत्रों को अनुसंधित्सु जन अपने समक्ष पाकर उनके प्राचीन सांस्कृतिक,

---

५७ वा० रामा०, बाल०, ३०। ६ तथा महाभारत सभा०, ३५। ९९

५८ अर्थशास्त्र, कौटिल्य, २—कालिका पुराण, अध्याय ३८

५९ ज्याग्रा० डैटा आफ रघु० एण्ड दशकुमार०, पृ० १५, १९०४

६० स्टडीज इन दि ज्याग्रा० आफ एंशेण्ट एण्ड मेडी० इण्डिया, पृ० ८७, दिल्ली १९६०

६१, इण्डिया इन कालिदास, डा० बी० एस० उपाध्याय, पृ० ३३ प्रथम स० इलाहाबाद

आर्थिक, व्यापारिक, राजनैतिक एवं भौगोलिक स्वरूपों के सूक्ष्म अन्वेषण में प्रवृत्त हो सकें। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि महाकवि ने प्राचीन राष्ट्र के दूरवर्ती विविध राज्यों के शासकों का वैविध्य पूर्ण वर्णन किया, उनके भिन्नकुल एवं गोत्र, भिन्न परम्परायें एवं प्रशस्तियां, भिन्न प्रवृत्तियां एवं चेष्टायें, वेषभूषा, रूप सभी कुछ भिन्न हैं किन्तु इस स्थूल भिन्नता या विविधता में एक केन्द्रीय महान् एकता अन्तर्निहित है—राष्ट्र की मूल सांस्कृतिक चेतना की एकता जो सूक्ष्म रूप में शरीर में रक्त के कण कण में समाहित है। इसी केन्द्रवर्ती एक इन्दुमती रूप चेतना को, जो विना 'रक्त-सम्बन्ध' किये आत्मसात् नहीं की जा सकती। केवल इसी एक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आधुनिक सभी भारतीय राजाओं को भाषा भेद, प्रान्त भेद, धर्मादि अनेक भेदों को भुलाकर मूलभूत सांस्कृतिक राष्ट्रीय एकता की चेतना, प्राप्त कराना ही महाकवि कालिदास का इन्दुमती स्वयम्वर रूप में एक नवजागरण का सन्देश है।

प्रवीण राय पातुर और उनका काव्य

पुरुषोत्तम शर्मा

मध्यकालीन हिन्दी काव्य के अध्येताओं के लिए प्रवीण राय पातुर का नाम लोकप्रसिद्ध न होते हुए भी अपरिचित नहीं है। प्रसिद्ध आचार्य कवि केशव दास की कवित्व अथवा आचार्यत्व सम्बधी चर्चा के प्रसग मे प्रवीण राय का नाम प्राय लिया जाता है। केशव-साहित्य का वह अत्यत महत्वपूर्ण अग है। केशव दास की कवि शिष्या अथवा काव्य प्रेरणा (जैसा कि कतिपय विद्वानों का विचार है) के रूप में हिन्दी-जगत् इस नाम से भलीभांति परिचित है। किन्तु उसकी कवित्व-प्रतिभा के प्रति पूर्णत आश्वस्त होते हुए भी (उसके) व्यक्तित्व के इस पक्ष की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। कवि केशव प्रवीण राय के काव्य गुरु ही नहीं 'आध्यात्मिक सरक्षक' भी थे। उनके 'कविप्रिया' जैसे अनुपम कवि शिक्षक अथवा लक्षण-ग्रन्थ की कारणभूत प्रेरणा 'राय-प्रवीन' ही थी। 'कविप्रिया' अत्यत उच्चकोटि का लक्षण ग्रथ होने के साथ ही तत्युगीन भावबोध का परिचायक एव प्रतिमान भी है। किसी सीमा तक हिन्दी-रीति-परम्परा का सस्थापक होने का श्रेय भी केशव की इस रचना को ही प्राप्त है। एक सर्वाङ्ग-पूर्ण काव्याङ्ग-निरूपक-ग्रथके रूप मे 'कविप्रिया' का और उसके प्रणयन की प्रेरणा के रूप में प्रवीण राय का हिन्दी साहित्य के इतिहास मे विशेष महत्त्व है।

सम्भवत विशुद्धरूप से कवि-कर्मी न होने के कारण अथवा साहित्यिक क्षेत्र में अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त न होने के कारण उसके जन्म-स्थान और वश आदिके सबध मे अधिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। व्यवसाय की दृष्टि से वह वाराङ्गना थी और भारतीय सामाजिक परपराओ तथा नैतिक मर्यादाओं के अनुसार इस कोटि की नारिया जातिवश-रहिता कही जाती हैं। सौंदर्य-गुण तथा कला-कौशल-नैपुण्य ही उनकी वास्तविक जाति होती है, वश होता है। किन्तु इतना निश्चित है कि प्रवीण राय का सम्बध मध्य-प्रदेश (तत्कालीन बुदेलखड) स्थित ओरछा राज्यके दरबार से था। कवि केशव भी इसी दरबार के आश्रय मे रहते थे। 'प्रवीणराई पातुरी ओरछा बुदेलखंडवासिनी' (१६४०) प्रवीण राय की प्रशसा मे केशव दासने कवि प्रिया ग्रथ के आदि में बहुत कुछ लिखा है[1]। इसके कवि होने मे कोई सदेह नहीं है। इसका बनाया हुआ ग्रथ तो हमको नहीं मिला केवल एक सग्रह मिला है जिसमे इसके द्वारा रचित सैकड़ों कवित्त सग्रहीत हैं[2]। प्रस्तुत कथन मुख्यत दो तथ्यों को उद्घाटित करता है। पहला यह

---

१ देखिये, कविप्रिया छद सख्या ४३-४६, ५६ ६१

२ शिवसिंह सरोज, ठाकुर शिवसिंह सेंगर, पृ० १५९

कि प्रवीण राय का जन्म सम्वत् १६४० में हुआ था और दूसरा यह कि कवित्व कौशल में उसकी रुचि थी। कतिपय अन्य विद्वानों ने भी उसका जन्म सम्वत् १६४० ही स्वीकारा है३। जन्म-स्थान आदि के सम्बंध में संभवतः कहीं भी कुछ नहीं कहा गया हैं।

प्रवीण राय ओरछा नरेश रामशाह के सहोदर (अनुज) कुंवर इन्द्रजीत सिंह की प्रेयसी थी। प्रवीण राय की रचनाओं में इसका स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है४। केशवदास इन्हीं कुंवर इन्द्रजीत सिंह के मंत्री, गुरु तथा सखा थे। यह भी संभव है कि अपने आश्रयदाता की प्रेम-भाजन होने के कारण ही केशव दास ने उसे अपनी शिष्या बनाना स्वीकार किया हो। एक प्रचलित धारणा के अनुसार कवि बिहारी केशव क पुत्र थे। यदि इस धारणा को सत्य मान लिया जाय तो बिहारी ने भी अपने पिता की इस शिष्या के समग्र कौशलों का अवलोकन किया होगा। विद्वानों ने 'बिहारी सतसई' के कुछ (संभवतः दो) दोहों में भी प्रवीण राय का उल्लेख हुआ बताया है५।

कुंवर इन्द्रजीत सिंह ओरछा के सिंहासनासीन शासक न होकर प्रबंधक मात्र थे। उनका निवास स्थान 'कछोवा' नामक दुर्ग था। इन्द्रजीत के पिता राजा मधुकर-शाह की मृत्यु के अनन्तर उनके पुत्रों में से कुमार रामशाह ओरछा राज्य के शासक बने। रामशाह स्वयं ग्यारह शूरवीर पुत्रों के पिता थे। परन्तु शासन-सम्भार में उनकी विशेष आसक्ति नहीं थी। इसलिए राज्य प्रबंध को उनके सहोदर इन्द्रजीत सिंह देखते थे। इन्हीं की प्रेयसी थी कवयित्री प्रवीण राय पातुर! प्रशस्ति-गायन के प्रसंगों में केशव ने इसको कल्पवृक्ष, सागर एवं अर्जुन आदि के समान कहा है६।

राजा रामशाह अपने अनुज को राज्य प्रशासन का भार एवं 'कछोवा' नामक दुर्ग सौंपकर स्वयं सपरिवार 'चँदेरा' नामक स्थान पर चले गये थे। कुँवर इन्द्रजीत अत्यंत रसिक एवं गुणग्राहिणी-प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। अपनी इन सभी भावनाओं की पूर्ति के लिये उन्होंने

३. हिन्दी विश्वकोष, सं० श्री नगेन्द्रनाथ वसु, पृ० ६४१, जिल्द १४।

४. कविता कौमुदी, भाग १ (आठवाँ संस्करण) पृ० ३७३-७४।

५. गहिकर बीन प्रबीन तिय राच्यों राग मलारु ॥१४६॥
रस जुत लेति अनंतगति पुतरी पातुर राइ ॥२८४॥

६. कल्पवृच्छ सों दानी दिन सागर सों गम्भीर
'केसव' सूरो सूरसों अर्जुन सों रणधीर ॥
—कविप्रिया, १-३९।

कछोवा में एक ललित कला केन्द्र (अखाड़ा) की स्थापना की थी७। अतीव बल-विक्रमशाली एवं रूप-शील आदि गुणों के पारखी इस राज-पुत्र का अन्तःपुर यद्यपि असंख्य अनिंद्य सुंदरियों से पूरित था परन्तु फिर भी उन्होंने अपने दरबार में अत्यन्त प्रसिद्ध छः वारांगनाओं को आश्रय दिया था८। प्रवीण राय, नवरंग राय, विचित्रनयना तानतरंग, रंगराय तथा रंगमूर्ति-इन वारवधुओं के नाम थे९। ये सभी अत्यंत सुंदर एवं कलावती ललनाएं थीं। किन्तु इन्द्रजीत सिंह प्रवीण राय के प्रति विशेष रूप से आसक्त थे। यद्यपि ये सभी तन्त्री, तुंबरु तथा सारिका आदि वाद्यों का वादन अत्यंत कुशलतापूर्वक करती थीं, परन्तु फिर भी प्रवीण राय इन सब में देव सभा-सुशोभिता शची के समान थी१०। वारांगनाओं की इस मण्डली की सभी सदस्यायें नृत्य-गायन एवं वादन-कुशला तथा विदुषी थीं किन्तु कवित्व-प्रतिभा केवल प्रवीण राय में ही थी११ उसके इन गुणों पर रीझकर केशव दास ने उसकी तुलना रमा, शारदा एवं शिवा प्रभृति आदर्श पौराणिक (नारी) पात्रों से की है१२। सूर्यवंशी कुमार इन्द्रजीत के संपर्क से उसके व्यक्तित्व में और भी अधिक निखार आया था।

कुँवर इन्द्रजीत सिंह हृदय एवं मन, दोनों से ही उस पर पूर्णतः आसक्त थे। भगवान् सविता ने प्रवीण राय को जो कवित्व-शक्ति प्रदान की थी, उसको प्रखर रूप में प्रकाशित करने के लिये ही केशवदास ने 'कविप्रिया' नामक कवि-शिक्षक ग्रंथ का प्रणयन किया था१३।

प्रवीणराय अपने समय की राज्याश्रिता वारवनिताओं में संभवतः सर्वाधिक गुणवती एवं प्रसिद्ध थी। किम्वदन्ती के अनुसार तत्कालीन मुगलपति जलालुद्दीन अकबर ने उस (प्रवीण राय) की विद्या-बुद्धि एवं रूप आदि की प्रशंसा सुनकर उसे अपने दरबार में बुला भेजा था। जन्म एवं कर्म से वेश्या होते हुए भी प्रवीण राय आदर्श हिन्दू गृहिणियों की भाँति एकव्रता थी। उसने मन, वचन एवं कर्म से अपने एकमात्र स्वामी के रूप में कुँवर इन्द्रजीत सिंह का ही वरण

७. वही १-४१

८. बाल्वहिक्रम बाल सब रूप सील गुन वृद्ध।
जदपि भर्यौ अवरोध पट पातुर परम प्रसिद्ध॥
—कविप्रिया, १-४२

९ कविप्रिया छं० सं० १-२।

१० वही, ३।

११ वही, ५।

१२, वही, ७, ८, ९।

किया था। नारी-धर्म तथा एकव्रता-धर्म के नियमों के अनुसार उसका अन्यत्र जाना निषिद्ध था। भले ही वह 'शहंशाहे-हिन्द' का दरबार ही क्यों न हो। किन्तु दूसरी ओर सम्राट की विपुल सत्ता का भय भी कम नहीं था। अपनी इस द्विविधात्मक स्थिति को उसने जिन शब्दों में अपने पतिकल्प आश्रयदाता के सम्मुख प्रकट किया था, वे उसकी एकव्रत्य-भावना एवं परिपक्व कवित्व प्रतिभा के सुंदर उदाहरण हैं[१४]।

इसी किंवदन्ती के अनुसार कुँवर इन्द्रजीत सिंह अपनी प्रिया के व्याकुलतापूर्ण आग्रह से विचलित हो उठे थे और उन्होंने दिल्लीपति के आदेश की अवज्ञा कर दी थी। जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें एक भारी धनराशि (संभवतः एक करोड़ रुपये) के दण्ड का भाजन बनना पड़ा था।

एकव्रता होने के साथ ही प्रवीण राय स्वामि भक्त भी थी। आश्रयदाता का अपने आश्रित की सम्मान-रक्षा के लिये दण्डित हो जाना उसे असह्य प्रतीत हुआ। अतः अपने आश्रयदाता के दण्ड-निवारणार्थ उसे मुगल-सम्राट के सम्मुख जाना ही पड़ा। कहा जाता है कि प्रवीण राय के चातुर्य, राजा बीरबल के प्रभाव एवं केशवदास के प्रयत्नों से इन्द्रजीत सिंह को दण्ड-मुक्त कर दिया गया था।

जैसा कि कहा जाता है, मुगल दरबार में पहुंच कर प्रवीण राय ने अपने 'कवित्व-कौशल से सम्राट अकबर को अभिभूत कर दिया था।' इस संदर्भ में प्रचलित छन्द इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है[१५]। सम्राट उससे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने प्रवीण राय से दिल्ली दरबार में ही रहने का सतत् आग्रह किया किन्तु स्वामिभक्त गणिका को यह स्वीकार नहीं था। उसने एक दोहे के द्वारा बादशाह के उन्मत्त विवेक को पुनः प्रशमित एवं अनुशासित कर दिया[१६]।

प्रवीण राय के इस दोहे की शब्दावली के आधार पर यह अनुमिति भी की गई है कि जिस समय प्रवीण अकबर के दरबार में गई थी उसके यौवन का ज्वार ढल रहा था[१७] यह अनुमान संभवतः उस दोहे में प्रयुक्त 'जूठी' शब्द के आधार पर किया गया है, जो कि पूर्णतः असंगत एवं भ्रामक है। इस संबंध में सबसे पहली बात तो यही कही जा सकती है कि

१३, वही, १०।

१५, कविता कौमुदी, वही पृ० १७३।

१५, वही, पृ० ३७३।

१६, वही, पृ० ३७३।

१७, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, पृ० २४१।

विश्वव्यापी परपरा के अनुसार विगत यौवना नारी का विशुद्ध दैहिक स्तर पर कोई मूल्य अथवा महत्व नहीं रह जाता और फिर मुगल दरबार जैसा शृगार अथवा रूप हाट के सदर्भ में तो यह बात और भी मुखर होकर कही जा सकती है। प्रौढ़ा प्रवीण का महत्व इन्द्रजीत के लिये हो सकता था और वह भी विशुद्ध भावनात्मक स्तर पर। किन्तु वार्धक्य प्राप्त प्रवीण के प्रति अकबर के आसक्त होने की बात कुछ अधिक सारगर्भित प्रतीत नहीं होती। दूसरे यह कि शाब्दिक रूप में 'जूठी' से तात्पर्य आहार अथवा प्रयोगान्तर शेष रही सामग्री अथवा वस्तु से लिया जाता है। अपने इस दोहे में 'जूठी पतरी' (जूठी पत्तल) शब्द का प्रयोग करके प्रवीण ने निश्चित रूप से इन्द्रजीत की चिरभोग्या होने की ओर सकेत किया था। अत उपर्युक्त अनुमान कुछ निराधार सा प्रतीत होता है।

मुगल सम्राट स्वय भी अत्यंत उदार एव गुणग्राही प्रतिभा के व्यक्ति थे। प्रवीण राय की उक्तियों से प्रभावित होकर उन्होंने उसे इन्द्रजीत के पास लौट जाने का आदेश दे दिया था।

मुगल दरबार में जाने के समय प्रवीण की अवस्था का अनुमाम उस के ही एक अन्य पद के आधार पर भी किया जाता है। इस पद में उसने अपने शारीरिक शैथिल्य एव आङ्गिक जर्जरता की ओर सकेत किया है। किन्तु जहां तक मैं समझता हूँ यह उक्ति उसकी सामयिक विनम्रता की प्रतीक है न कि यौवनावरोहण की१८।

प्रवीण राय की उपलब्ध काव्य-रचना मे दो अन्य दोहे भी ऐसे हैं जिनका सम्बध भी इसी घटना से बताया जाता है।

> ऊँचे ह्वै सुर बस किये सम ह्वै नर बस कीन।
> अब पताल बस करनि कै टरकि पयानौ कीन॥ क० कौ०
> युवन चलन तिय देंह तें चटक चलन किहि हेत।
> मन्मथ वारि मसाल कौ सौति सिहोरा लेन॥

इन दोहों की प्रथम पक्ति अकबर कथित तथा द्वितीय प्रवीण रचित मानी जाती है। हिन्दी साहित्य के कितने ही विद्वानों ने इस तथ्य का उल्लेख अपने ग्रथों में किया है१९।

---

१८ कविता कौमुदी पृ० ३७३।

१९, (क) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, डा० सावित्री सिन्हा, पृ० २४१।
(ख) आचार्य केशवदास, डा० हीरालाल दीक्षित, पृ० २९।

परन्तु प्रवीण राय संबंधी यह वृत्तान्त मूलतः एवं मुख्यतः किम्वदन्तियों एवं जनश्रुतियों पर ही आधारित है। इसकी वास्तविकता की जाँच करने योग्य कोई भी विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। 'किसी तवारीख में लिखा नहीं देखा कि बादशाह अकबर ने प्रवीन को बुलाया। केवल विदित है कि अकबर ने प्रवीन की प्रवीनताई सुनी तो दरबार में बुलाया'२०।

कवयित्री प्रवीण राय के जीवन वृत्त के संबंध में विभिन्न जनश्रुतियों तथा जल्पना-कल्पनाओं के आधार पर केवल इतना ही विवरण उपलब्ध है। यह निश्चित है कि मुगल-दरबार से (यदि जनश्रुति सत्य है तो) वह अपने रसिक आश्रयदाता के पास लौट आई थी और वहीं रहने लगी थी। इसके अनन्तर ऐतिहासिक परंपराएं उसके सम्बंध में मौन हैं। उसकी मृत्यु कब और कहाँ हुई; उसने कितना क्या और किस-किस विषय पर लिखा अथवा अपने आश्रयदाता की मृत्यु के समय वह जीवित थी या नहीं, यदि जीवित थी तो कब तक? यह सब कुछ हिन्दी साहित्य के इतिहास के विद्वानों के गम्भीर अध्ययन एवं अन्वेषण का विषय हो सकता है।

ग्रंथ रूप में प्रवीण राय की किसी रचना का उल्लेख अभीतक प्राप्त नहीं हुआ। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने उसकी काव्य-रचना के एक संग्रह की चर्चा अवश्य की है, परन्तु उसका नाम उन्होंने नहीं बताया। विभिन्न ग्रंथों में प्रवीण राय की छन्द-रचनाओं का यथा सामर्थ्य संग्रह हुआ है। इन रचनाओं से उसके कवयित्री रूप का आभास मात्र मिलता है। उसकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन के लिये उनका प्रचुर मात्रा में संग्रहीत होना आवश्यक है और यह तभी संभव हो सकता है जब कि प्रवीण राय एवं केशव आदि से संबंधित स्थानों के स्थानीय (राजकीय) पुस्तकालयों में सुरक्षित सामग्री तथा अन्य स्थानों पर उपलब्ध तत्सम्बंधी सामग्री का गम्भीर एवं क्रमबद्ध अध्ययन किया जाय।

हिन्दी साहित्य में प्रवीण राय का महत्व केवल एक ऐतिहासिक व्यक्ति अथवा कवि केशवदास की प्रेरिका-शक्ति रूप में ही नहीं है। विशुद्ध कलात्मक दृष्टि एवं साहित्यिक स्तर पर भी उसे पर्याप्त महत्व प्रदान किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए। यद्यपि प्रवीण राय की सभी रचनाएँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु केवल उपलब्ध रचनाओं के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसकी 'रचनाएँ उत्कृष्ट शृंगार की अभिव्यंजनाएं हैं। उसने संयोग शृंगार के चित्र ही खींचे हैं, वियोग की वेदना तथा पीड़ा कदाचित् जीवन की अनुभूत भावनाएँ न होने के कारण उसकी लेखनी का आश्रय नहीं पा सकी हैं'२१। इस तथ्य का

---

२०. शिवसिंह सरोज, ठाकुर शिवसिंह सेंगर, पृ० १५९।

२१. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, डा० सावित्री सिन्हा, पृ० २४१-२४२।

सम्बन्ध भी प्रवीण राय के बहुश्रुत व्यक्तिगत जीवन से ही है। मनसा-वाचा कर्मणा वह राज्याश्रिता थी। केवल राज्याश्रिता ही नहीं राज्य प्रयसी भी। स्वय आश्रयदाता ही आश्रिता को सब तरह के सांसारिक आनन्द प्रदान करने के लिये तत्पर था। जीवन वृत्त का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि पतिकल्प आश्रयदाता से चिरकाल पर्यन्त दूर रहने का अवसर भी प्रवीण राय के जीवन में नहीं आया। उसके जीवन की विलासिता एव संयोगावस्थाएँ स्पष्टत. उसकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित हैं। ऐसी अवस्था में वियोग-चिन्तन का प्रश्न ही नहीं उठता था। रचनाओं में प्रेमपरक व्यजना एव ऊहात्मक कल्पना के प्राधान्य का कारण भी सभवत यही है।

प्रवीण राय की काव्य-कला के सदर्भ में एक बात की ओर विशेष रूपसे ध्यान देना आवश्यक है। इस कवयित्री का मूल एव मुख्य रूप भारतीय नारी का है। जैसा कि पहले भी कहा गया है, वारागना होते हुए भी वह आदर्श एकव्रता के रूप में ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। उसके जीवन काल (विशेषत यौवन काल) का समय हिन्दी के शुद्ध एव स्थूल शृगारिक साहित्य का रचना काल माना जाता है। प्रवीण राय की रचनाओं में भी विद्वानो को इस स्थूल (किसी सीमातक घोर) शृंगारिकता का आभास मिला है। इसका मुख्य कारण उसका वारागना कुल में उत्पन्न होना माना गया है। इसी (काव्यगत्) स्थूल-शृगारिकता के कारण उस पर मर्यादाविहीनता एव निर्लज्जता आदि के आरोप भी लगाए गये हैं[२२]। आरोपकारों की दृष्टि उसके काव्य का मूल्यांकन करते समय सभवत निष्पक्ष नहीं रह पाई। कविता का मूल्यांकन करते समय भी उनके सम्मुख 'नारी' प्रवीण राय ही प्रतिबिम्बित हुई है कवयित्री नहीं। यदि एक साधारण नारी के स्थान पर एक प्रबुद्ध कवयित्री के रूप में उसकी कविता पर विचार किया जाता तो सभवत प्रवीण राय के 'कलाकार' को इस प्रकार से आरोपित न किया जा सकता। और फिर वारागना-कुल में हुए उसके जन्म को ही काव्यगत् स्थूल-शृगारिकता का मुख्य कारण मान लेना भी कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है।

उसके काव्य साहित्य की सब से बड़ी विशेषता यह भी है कि शृगारिक भावनाओं पर भक्ति का रग नहीं चढ़ाया गया। स्वानुभूत भावनाओं को उसने तत्कालीन सामाजिक परिवेश एव परपराओं से आक्रान्त होकर राधा-कृष्ण को समर्पित नहीं किया है। इस दृष्टि से उसकी सपूर्ण रचनाएं काव्य के सौंदर्य बोधात्मक एव नैतिक मूल्यों के द्वन्द्व-बोध से पूर्णत' मुक्त हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण रचनाओं की सरसता, सहजता, पार्थिवता एव यथार्थ-बोध है। वह 'हिन्दी

---

२२. वही, पृ० २४३।

साहित्य की प्रथम लेखिका है जिसने शृंगार की अभिव्यंजना के लिए अपार्थिव आलम्बन की शरण न लेकर, अपने यथार्थ प्रेम पात्र के प्रति अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति की है[२३]। इसके प्रभूत प्रमाण उसकी रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं[२४]।

प्रवीण की रचनाओं में निहित यथार्थ-बोध तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष को समझने में भी बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। उस समय के समाज में नारी की स्थिति का अध्ययन एवं अनुमान करने के लिये प्रवीण राय के काव्य को एक आदर्श मानदण्ड के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। नारी 'भोग्या' होने के साथ ही और जो कुछ भी थी उसका चित्रण (भले ही वह अप्रत्यक्ष हो) इस कवयित्री के काव्य में मिलता है। नारी का रूप वर्णन करते समय यदि उसने उत्तेजक अथवा कामोन्नयायक रूप को प्रधानता दी है तो युगबोध से प्रभावित होकर ही।

कवयित्री प्रवीण राय केशव दास जैसे समर्थ आचार्य-कवि की शिष्या थी। काव्य-गुरु के कितने ही काव्यात्मक-गुणों का प्रतिफलन उसके 'कवि' में हुआ था। संभवतः भाषा की संस्कृत-निष्ठता का मुख्य कारण भी उसी 'कठिन भाषा को प्रेत' का प्रभाव हो। कतिपय स्थानों पर भाषा की दृष्टि से उसका काव्य केशव की कविता के अत्यधिक समीप पहुँचता प्रतीत होता है।

यथा निम्न पद्य में :—

> कमल कोक श्रीफल मँजीर कलधौत कलस हर।
> उच्च मिलन अति कठिन दमक बहु स्वल्प नील धर।
> सरवन शरवन हेम मेरु कैलास प्रकासन।
> निसि वासर तरुवरहि काँस कुन्दन दृढ़ आसन॥

—कविता कौमुदी, पृ० ३७४

यह तथ्य जहां उसके भाषा-सामर्थ्य का परिचायक है वहीं पांडित्य का भी।

कुल मिलाकर प्रवीण राय का व्यक्तित्व एक सुसंस्कृता, विदुषी एवं अनुभवी कवयित्री का था। कलाओं की लीलास्थली-वारांगना कुल में जन्म हुआ था, पांडित्य के आश्रयस्थल-केशव दास जैसे आचार्य से उसने छन्द, अलंकार आदि काव्य विधाओं की शिक्षा पाई थी तथा विलासिता,

---

२३. वही, पृष्ठ वही

२४. कविता कौमुदी पृ० ३७३, ३७४

सुरक्षा एव कलाप्रियता के निवासस्थल—राज्य दरबार में उसे आश्रय मिला था। ऐसी अवस्था में उसकी कविता में जो कुछ भी आया है, वह स्वाभाविक है, अकृत्रिम है, प्रशसनीय है।

कवयित्री रूप में प्रवीणराय का यही महत्व है। वह अपने समय में प्रचलित उस काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व करती है जो कि आरोपित भक्ति-भावना को छोड़कर यथार्थ को ही अधिक महत्व देती थी- समकालीन अथवा अत्याधुनिक साहित्य-धाराओं की ही भाँति। उसकी रचनाएँ ही सभवत इस तथ्य के सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण हैं।

शिल्पी—आचार्य नन्दलाल वसु

मानव-भावाभिव्यंजक नए आलंकारिक प्रकृति-उपमान

ललिता प्रसाद सकसेना

प्रकृति मानव की सहचरी, सहयोगिनी प्रेमिका, पत्नी, आराध्या, माता एवं भोग्या है। वह उससे अपने सुख-दुःख की कहानी कहता, अपनी समस्याओं के समाधान पूछता तथा प्रत्येक सम्भव सहायता की अपेक्षा करता है। मानव-भावाभिव्यक्ति का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं। यही कारण है कि कवि अपनी अथवा अपने साथी मानव-समुदाय की भावाभिव्यक्ति के समय भी उससे प्रत्येक सम्भव सहयोग तथा अनेक प्रकार की सहायता लेता है। मानव-भावाभिव्यंजन में आलंकारिक उपमान प्रकृति-रूपों का प्रयोग उसकी इसी सहयोग-भावना का सुपरिणाम है।

आलंकारिक उपमान प्रकृति-रूपों का प्रयोग उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, भ्रान्तिमान आदि अलंकारों की शैलियों में व्यंजित विषय-वस्तु में होता है। भावाभिव्यक्ति में इन उपमानों का महत्व संदेह का विषय नहीं। प्राचीन काल से लेकर अद्य पर्यन्त इनका प्रयोग कविगण अपने काव्य में करते आए हैं। इनके प्रयोग से अभिव्यक्ति में जो स्पष्टता, मार्मिकता तथा रसात्मकता की अभिवृद्धि होती है, वह सर्वविदित है।

स्थूल रूप से इन उपमानों को निम्नांकित ५ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(अ औपम्यमूलक (आ) आरोपमूलक (इ) सम्भावनामूलक

(ई) सन्देहमूलक (उ) भ्रममूलक

अतः नयी हिन्दी-कविता के इन उपमानों के विवेचन के लिए अब हम इन पर पृथक-पृथक रूप से विचार करेंगे।

(अ) औपम्यमूलक आलंकारिक प्रकृति-उपमान

इस वर्ग के उपमानों का प्रयोग काव्याभिव्यक्ति को जितना आकर्षक रूप प्रदान करता है, उतना सम्भवतः अन्य वर्गों के उपमानों का नहीं। प्राचीन काल से लेकर अद्यपर्यन्त विश्व के प्रायः सभी कवियों ने इन उपमानों के प्रयोग द्वारा अपनी कविता-कामिनी की शोभावृद्धि की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शैली-शिल्प की महत्व-प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील नये कवि भी इस दिशा में पर्याप्त जागरूक हैं। उनकी कविता में इस वर्ग के उपमानों का प्रयोग जितना हुआ है उतना अन्य वर्गों के उपमानों का नहीं। उनके इन प्रयोगों ने उनके काव्य को जो महत्व प्रदान किया है, वह विस्मरण का विषय नहीं। नयी कविता के अग्रांकित स्थल इस विषय में द्रष्टव्य हैं :—

(क) स्मृति-व्यजक औपम्यमूलक मूर्त-चेतन आलकारिक प्रकृति उपमान

"छू गई मुझको
न जाने कौन बिसरी बात
भूला क्षण
जिस तरह छू जाय नागिन
फूल को खिलते पहर[१]।"

(ख) लगन व्यजक औपम्यमूलक आलकारिक मूर्त, अचेतन प्रकृति-उपमान —

"कम्पित निर्धूम शिखा-सी
यह अनिमेष लगन[२]।"

(ग) परिताप एव पश्चात्ताप-व्यजक औपम्यमूलक मूर्तआलकारिक प्रकृति उपमान

"तुम्ह परिताप-पश्चात्ताप
वात्याचक से घेरे हुए हैं[३]।"

(घ) अभिलाषा-आकाक्षा एव पीडा व्यजक औपम्यमूलक मूर्त-अमूर्त आलकारिक प्राण प्रकृति-उपमान —

"चूमना आषाढ की पहली घटाओं को,
झूमता आता मलय का एक झोंका सर्द,
छेडता मन की मुदी मासूम कलियों को
और खुशबू-सा बिखर जाता हृदय का दर्द[४]।"

(च) स्मृति-व्यजक औपम्यमूलक आलकारिक अमूर्त-अचेतन, प्राण एव मूर्त-अचेतन प्रकृति-उपमान —

"लेकिन उन कुचित से
कुन्तल के फूलों की गन्ध-याद
चांदनी में धुए-सी उठती है[५]।"

---

१ भारती, मेघ-दुपहरी, सात गीत वर्ष, पृ० ५७
२ कीर्ति चौधरी, सीमा-रेखा, तीसरा सप्तक, पृ० ९१
३ नरेश मेहता, सशय की एक रात, पृ० ५३
४ धर्मवीर भारती, बरसाती झोंका, दूसरा सप्तक, पृ० १९३
५, नित्यानन्द तिवारी, अजानी गध, नयी कविता, अक ३, १९५६, पृ० ७०

(छ) **आकांक्षा-व्यंजक औपम्यमूलक आलंकारिक मूर्त-चेतन प्रकृति-उपमान :—**

"और जब कभी गोरैया-सा मन
घर के आंगन में खेलने को हुआ[६]।"

(ज) **स्मृति-व्यंजक औपम्यमूलक आलंकारिक मूर्त जड़ प्रकृति-उपमान :—**

"अब तो तुम्हारी सुधि
मुझको हुई है हिमालय की लकीर-सी[७]।"

(झ) **स्मृति-व्यंजक औपम्यमूलक आलंकारिक मूर्त द्रव, आस्वाद्य एवं अमूर्त-घ्राण प्रकृति-उपमान :—**

"जब याद तुम्हारी जाती है
सांसों में केशर की उसांस छा जाती है
+ + + +
सुधि का परस
कम्प भर देता
जाने कैसी अनुभूति बिखर-सी जाती है,
मैं सिहर-सिहर रह जाती हूँ,
आकंठ डूब कर
मधु के निर्मल सागर में[८]।"

(ट) **तृषा एवं तपन व्यंजक औपम्यमूलक आलंकारिक अमूर्त-स्पृश्य प्रकृति-उपमान :**

"यह तृषा, यह तपन
जलते जेठ-सी[९]।"

(ठ) **स्वच्छता-व्यंजक औपम्यमूलक आलंकारिक मूर्त-चेतन प्रकृति-उपमान :—**

"इन्द्रियां सब जागती हैं। और सब भूली हुई हैं खेल में
जिसमें तुम्हारा मैं सखा हूँ—
मानवों की सृष्टियों के जाल से उन्मुक्त—

---

६. रघुवीरसहाय, अनिश्चय, दूसरा सप्तक, पृ० १६५
७. गिरिजाकुमार माथुर, मंजीर
८. कीर्ति चौधरी, कविताएं, पृ० २६-२७
९. रवीन्द्र भ्रमर, विनत स्वर, नयी कविता, अंक ३, १९५६, पृ० ७७

पगहा तोड़ भागे हुए मृग-सा—
स्वय मानव,
चिरन्तन की सृष्टि का लघु अग१० ।"

(आ) आरोपमूलक आलंकारिक प्रकृति-उपमान —

काव्य मे इस वर्ग के उपमानो का प्रयोग भी औपम्यमूलक उपमानो के समान ही पर्याप्त महत्वपूर्ण है। नए हिन्दी-कवियो ने यद्यपि इन उपमानो का प्रयोग पूर्व वर्ग के उपमानों की अपेक्षा कुछ कम किया है तथापि उनके ये प्रयोग पर्याप्त मौलिक हैं। उदाहरणार्थ नयी हिन्दी-कविता के निम्नाकित स्थल लिये जा सकते हैं —

(क) स्नेह-व्यंजक आरोपमूलक आलकारिक मूर्त अचेतन प्रकृति-उपमान —

स्नेह-निर्झर बह गया है
रेत-सा तन रह गया है१२ ।

(ख) स्मृति व्यजक आरोपमूलक आलकारिक मूर्त-जड़ प्रकृति उपमान —

"सस्मृति के सूने कठोर शिला-खड पर
वज्र बन धंसे हैं वे तेरे इस्पात-चिह्न१३ ।"

(ग) ममत्व व्यजक आरोपमूलक आलकारिक मूर्त चेतन प्रकृति-उपमान —

"मेरा मन उदास हो गया है।
ममता ने मुझे डस लिया है१४ ।"

(इ) सम्भावनामूलक आलकारिक प्रकृति उपमान —

इस वर्ग के उपमानो के प्रयोग के लिए एक समानान्तर बिम्ब-निर्माण की अपेक्षा रहती है, अत इनका प्रयोग करने में जो कवि जितना ही सक्षम होगा, उतना ही वह कल्पना-प्रवण एव भावुक होगा और उतना ही उत्कृष्ट उसका काव्य होगा। प्राचीन काव्य मे उपलब्ध इन उपमानों के प्रचुर प्रयोग भी इसी तथ्य के द्योतक हैं कि सहृदय पाठक-अध्येताओं तथा भावुक काव्य-मर्मज्ञों पर इनका हृदय-स्पर्शी प्रभाव पड़ता है। नयी हिन्दी-कविता में इस वर्ग के मानव-

---

१० अज्ञेय, मुझे सब कुछ याद है, हरीघास पर क्षण भर, पृ० ३०
११ प्रभाकर माचवे, पुलिन, अनुक्षण, पृ० ११७
१२ गिरिजाकुमार माथुर, मजीर
१३ सुरेश अवस्थी, प्रजाकाम, नयी कविता, अङ्क ३, पृ० ८२
१४ गिरिजाकुमार माथुर, मजीर

भाव-व्यंजक उपमान प्रायः कम देखने में आते हैं। फिर भी जहां-कहीं भी इनका प्रयोग हुआ है, काव्याभिव्यक्ति में न केवल इनसे पर्याप्त सहयोग मिला है प्रत्युत उसकी मार्मिकता में भी अभिवृद्धि हुई है। उदाहरणार्थ अग्रांकित प्रयोग देखिये :—

(क) स्मृति व्यंजक सम्भावनामूलक आलंकारिक मूर्त-जड़ प्रकृति-उपमान :—

"संस्मृति के सूने कठोर शिलाखंड पर
बज्र बन धंसे हैं- वे तेरे इस्पात-चिह्न
मानो पत्थर भी गल के मोम बन गया था तब
और सूख जाने पर
जैसे के तैसे निशान बने रहे प्राण११ ।"

(ख) क्रोध-व्यंजक सम्भावनामूलक मूर्त आलंकारिक प्रकृति-उपमान :—

क्रोध-उपजा———
खून खौला, खिंचीं भौहें
हुईं आंखें लाल चेहरा तमतमाया।
एक आंधी-सी गयी झकझोर कर तन तोड़१५।

उक्त वर्ग के उपमानों के ये प्रयोग नयी कविता में इतने कम हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन उपमानों की यह प्रयोग-अल्पता सम्बद्ध कवियों की इनके प्रति उदासीनता के साथ ही उनकी अक्षमता की भी द्योतक है यद्यपि यहां नए कवियों के समर्थन में यह कहना भी अनुचित नहीं कि काव्य के विराट क्षेत्र में उपमान-योजना विषयक यह वैविध्य समय की अपेक्षा रखता है—कवि-समाज को इसके लिए एक-दो दशक नहीं, शताब्दियों की आवश्यकता है। इसके उपरान्त ही हम उनसे ऐसी आशा कर सकते हैं क्योंकि अभीष्ट समय एवं प्रचुर काव्य-निर्माण के हो चुकने पर ही उसमें अभीष्ट उपमान वैविध्य होगा और तभी उसमें उनकी प्रचुरता होगी।

सन्देह तथा भ्रममूलक आलंकारिक उपमानों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। नयी हिन्दी-कविता में इस वर्ग के उपमानों का प्रयोग रूप-चित्रण के क्षेत्र में तो यत्र-तत्र अवश्य हुआ है; किन्तु मानव-भावाभिव्यंजन के क्षेत्र में उनका प्रायः अभाव है।

निष्कर्ष यह कि उक्त क्षेत्र के आलंकारिक प्रकृति-उपमानों के पंच वर्गों में से केवल प्रथम दो वर्गों के—औपम्यमूलक एवं आरोपमूलक—उपमानों का ही प्रयोग विवेच्य काव्य में सर्वाधिक

---

१५. जगदीश गुप्त, प्रयोगवादी काव्यधारा (डा० रमाशंकर तिवारी), पृ० ४४८ से उद्धृत।

हुआ है, अन्य वर्गों के उपमानो की ओर प्राय कवियों का ध्यान नहीं गया है। नया कवि इन उपमानों का प्रयोग जितनी स्वच्छन्दता से करता है, अन्य का नहीं। कभी वह भावों रूपी ज्वारो को स्वय को समर्पित करनेवाले व्यक्ति की उपमा धरती से और प्रिय की मधुर स्मृतियों के मधु से भीगी आत्मविभोर लजीली मुग्धा नायिका की पुष्पभार से आक्रान्ता सकोचशीला लता से देता है —

"मैंने अपने को सौंप दिया
ज्वारों को
विवश धरती-सा सौंप दिया"१६।

तथा

'ऐसी सिहरन,
ऐसी कम्पन,
मधु से भीगा-भीगा सा मन
में भूली-सी बैठी रहती,
जैसे पुष्पों का भार लिए सकुचाय लता"१७।

और कभी हसनेवाली नारी की उपमा धूल से और गमकनेवाली सुधियों की कपूर के दीपको से देता है —

(क) "हस-हस तन धूल-सी
दोहरी हो जाती हूँ१८।"

(ख) "गमक रहीं सुधिया ज्यो दिये कपूर के१९।"

इसी प्रकार कभी वह भावाकुलता पर आंधी (जिस अकुलाहट की आधी ने मेरा तन-मन झकझोरा है२०), दर्द पर शिला (दर्द की शिला तले पिसे पाए जाते हो२१), सुख-दु ख

---

१६ नरेश मेहता, सशय की एक रात, पृ० ९७।
१७ कीर्ति चौधरी, सुधि के क्षण, कविताए, पृ० २६
१८ इन्दु जैन, जिस दर्द से, धर्मयुग, १३ अक्टूबर ६३, पृ० ७
१९ रवीन्द्र भ्रमर, नील झील पर, धर्मयुग, ९ फरवरी ६४, पृ० २३
२० इन्दु जैन, जिस दर्द से, धर्मयुग, १३ अक्टूबर ६३, पृ० ७
२१, वही,

पर लहरों२२, विस्मृति पर मेज की दराज (कभी-कभी विस्मृति की दराज में जैसा का तैसा धर देता हूँ२३) तथा इश्क पर जंगल और यादों पर मृगावली का आरोप करता है :—

"किस पापी ने तीर चलाया
इश्क का जंगल सहम गया है।
डरती और कांपती हुई भाग गयी है
यादों की मृगावली२४।

और कभी भावों पर बारात, वेदना पर वातायन (खुला ही रहे यह मेरा वातायन वेदना का२५), स्मृति-पटल पर शेफाली (पर जब झर-झर स्मृति-शेफाली२६), उल्लास पर अश्व और आकांक्षाओं पर अंधकार का। कभी वह विक्षोभ में मणियों, अनुभूति में टहनी, प्रेम में दीपक, आकांक्षा में वेश्या, प्यार में बल्ब (प्यार का बल्ब फ्यूज हो गया), अभिलाषाओं (दिवा-स्वप्नों) में भुने हुए पापड़ (मेरे सपने इस तरह टूट गये जैसे भुना हुआ पापड़), आस्था के नष्ट होने में तिनके के टूटने (अपनी हर आस्था तिनके-सी टूटी) और विवेक में रत्नों का रूपक बांधता है और कभी भक्ति में अग्नि, संकल्प-शक्ति में लोहे के मजबूत ज्वलन्त टायर (आत्मा के चक्के पर चढ़ाया जा रहा संकल्प-शक्ति के लोहे का मजबूत ज्वलन्त टायर), वेदना में नदियों, लालसा में चन्द्रमा (लालसा के चन्द्रमासा) और मौन में सरिता का ; कभी अनुभव को चीनी दीवार, धड़कते हुए सुखी दिलों को उसकी ईंटों, आकाश को प्रसन्नता के दर्पण, शान्ति को 'डबों' और 'राजहंसों' और भावना को तुंग लहरियों के रूप में प्रस्तुत करता है और कभी विश्वास को दीपक, वारिद (सर्वदा विश्वास का वारिद घना था) एवं खड्ग, धर्म-घृणा को ज्वाला, भावों को सीपी, चेतना को मुरली, सुख को अंकुरों और संस्मृति को शिलाखंड के रूप में प्रस्तुत करता है।

तमोमयी रजनी का अन्धकार नष्ट हो चुका है। दूसरों के भावों अथवा उपाधानों में मौलिकता लाने का समय व्यतीत हो गया है। कवि अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक है। नयी लालिमा, नयी रश्मियों, नये प्रकाश तथा नूतन पुलक उत्साह के साथ नया कवि नया युग लाने के लिए प्रयासशील है और नये काल क्रम तथा नव युग के नूतन रजत प्रसार के साथ उसकी गतिशीलता एवं सफलता भी असंदिग्ध है।

२२—२३. भवानीप्रसाद मिश्र
२४. अमृता प्रीतम, कम्पन, धर्मयुग, २६ जनवरी १९६४, पृ० ९
२५. अज्ञेय, इत्यलम्, पृ० १८२
२६. वही, बावरा अहेरी, पृ० २४

वर्णरत्नाकर में कथित सैनिक-वेशभूषा

भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर विरचित वर्णरत्नाकर (१३१८ ई०) मध्यकालीन वर्णक-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है। प्रस्तुत ग्रंथ मे वस्त्रों की विस्तृत सूची मिलती है। साथ ही सेना के प्रयाण के प्रसग में सैनिक-वेशभूषा का भी विपुल भाव से चित्रण हुआ है। इसमें सेना के हाथी, घोड़े, घुड़सवार, गज-सैनिक तथा पैदल (पदाति) सैनिकों की साज-सज्जा सबधी मध्यकालीन शब्दावली बहुत ही महत्वपूर्ण है।

घोडे की साज

ज्योतिरीश्वर ने घोड़ो की सजावट के कई पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है[१]। इनमे 'पापर' से तात्पर्य लोहे की महीन कडियों से बने हुए रक्षात्मक सन्नाह अर्थात् कवच से है। कीर्तिलता का पाठ 'पाखर'[२], पद्मावत का 'पखरे' और सुजानचरित का 'पक्खर'[४] है। 'पाखर' नामक यह रक्षात्मक झूल घोड़े अथवा हाथी के दोनों बगलों में लटकनी सी होती थी। पद्मावत के अनुसार भाँति-भाँति के कवचों (पखरे) से सज्जित घोड़े अति सुदर लगते थे[५]। अबुलफजल के अनुसार यह कई हिस्सों में बनती थी। दोनों बगल, मस्तक आदि के अलग-अलग भाग थे[६]।

तदुपरात घोड़े के सजाने की सामग्री का उल्लेख करते हुए सबसे पहले 'सरासार' की चर्चा की गई है। कीर्तिलता और प्राकृत पैगलम् में तो इसका अर्थ बाण है[७]। लेकिन यहां तो 'सरा' और 'सार' दो शब्दों का मेल दीखता है। 'सरा' अर्थात् सिरा की पहचान पदमावत के 'सिरी'[८] पाठ से मिलती है। लोहे की महीन कडियो की बनी हुई झूल का मुह को ढकनेवाला भाग मध्यकाल मे 'सिरी' कहलाता था जो हाथी और घोड़े के लिए भी समानार्थक

---

१ वर्ण रत्नाकर, पृ० ३२
२ कीर्तिलता, ४। १४७
३ पद्मावत, ५१३। ४
४ सुजानचरित, पृ० १७२
५ 'बरन बरन पखरे अति लोने—पद्मा०, ५१३। ४।
६ आइन अकबरी अनु० ब्लाखमैन, पृ० १३६
७ कीर्तिलता, सजीवनी टीका, ४। २०४, प्राकृत पैगलम्, २। १३२
(सरासार शर+आसार=बाणवृष्टि)
८, पद्मा०, ५१३। ५, ५१४। ६।

था। जायसी के वर्णन के अनुसार घोड़ों के मस्तक पर सिरी नामक आभूषण में माणिक जड़े हुए थे९।

'सार' पद्मावत के 'सारि'१० पाठ से तुलनीय है। वैसे 'सार' का शाब्दिक अर्थ तो है फौलाद११। जायसी के वर्णन के अनुसार घोड़े के 'सार' अर्थात् कवच के लोहे पर सोने का काम सँवार कर बनाया गया था। मध्यकाल में लोहे के कवच (सार) आदि पर लोहे की कलम से फूल-पत्ती आदि खोद कर उसमें सोने का तार पीट कर कोफ़्त-तिलाई के काम का रिवाज था, जिसका जायसी ने वर्णन किया है।

सरउटो— (?)

'बाग' की व्युत्पत्ति सं० वल्गा और प्रा० वग्गा से है जिसका अर्थ लगाम है।

'वगहर' की व्युत्पत्ति सं० वल्गधर से है। इसका अर्थ वागडोर है। आधुनिक मैथिली में 'वगहा' शब्द प्रचलित है।

'वगबान्धा' की व्युत्पत्ति सं० वल्गवन्ध से स्पष्ट है। लगाम से बंधकर गर्दन तक जानेवाली रस्सी से मतलब है।

'पाएन' अर्थात् पावदान भी घोड़ा की सज्जा का एक अंग था। घुड़सवार सैनिक इस पर पांव रखते थे।

'नुपुर' (नूपुर)—घोड़े के पावों में बंधकर बजनेवाला आभूषण था।

'चौरासी घाटी'—मध्यकालीन लोकप्रिय शब्द था। यह चौरासी किंकिणियों की घुंघरूदार मेखला होती थी। इस नाम से हनुमान को भी चौरासी घंटेवाले कहने की प्रथा प्रचलित है। जायसी ने घोड़े के गले के घुँघरूदार कंठे को चौरासी कहा है१२। वस्तुतः यह साज मध्यकाल के हाथी और घोड़ों के लिए समान था। अबुलफजल ने 'चौरासी' को हाथी का आभूषण बताया है जो बहुत ही शोभाबर्द्धक होता था। उसके अनुसार घुंघरूदार चौड़ी पट्टी के अर्थ में यह प्रयुक्त है१३।

'ताजन' का अर्थ चाबुक है। कीर्त्तिलता का पाठ 'तजान' है। विद्यापति के वर्णन

---

९. 'मानिक जरे सिरी ओ कांधे'—पद्मा०, ५१३। ५।
१०. 'सारि संवारि लिखे सब सोने'—पद्मा०, ५१३। ४।
११. 'मुई खाल की सांस से सार भस्म होइ जाइ'—रहीम
१२. 'चंवर मेलि चौरासी बांधे'—पदमा०, ६६६। ५
१३. आईन०, ब्लाखमैन, अनु० पृ० १३५

के अनुसार सेना के घोड़े चाबुक के डर से इतने वेग से चलते कि हवा को भी जीतते हुए जान पड़ते थे१४। पदमावत में 'तायन'१५ और 'ताजन'१६ दोनों पाठ हैं। फारसी शब्द ताजियाना है जिसका अर्थ चाबुक है१७।

घुड़सवार सैनिकों की वेशभूषा—ज्योतिरीश्वर ने घुड़सवार सैनिकों की साज-सज्जा का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। किन्तु इसमें अनेक क्लिष्ट और पारिभाषिक शब्द भी आ गए हैं।

घुड़सवार 'भंगा' (कोट) धारण करता था। हिन्दी में झगा का अर्थ है ढीला कुरता या अगरखा१८। इसके लिये व्रजभाषा में झुगुलिया शब्द प्रयुक्त है।

वराली—कमरबन्द से तात्पर्य प्रतीत होता है

पाग—पगड़ी वर्णरत्नाकर के लगभग सौ वर्ष बाद लिखित कान्हड़दे प्रबन्ध काव्य (१४५१ ई०) में सैनिक वेश का वर्णन करते हुए 'अगाटोपा'१९ और 'जरह जीण टोप'२० शब्द आए हैं। पदमावत में अश्वारोही के सिर पर 'टोपा' का उल्लेख है२१।

दशारइचा—इसका अभिप्राय दस्ताना से लगता है। अबुल्फजल का पाठ 'दस्तवाना' है२२ और जायसी का 'पहुँची'२३।

मोजा—आधी टाँग का आहनी कवच होता था, जिसकी चर्चा कान्हड़दे प्रबन्ध में राग (पूरी टाँग का कवच) के साथ ही की गई है२४। आईने-अकबरी की सूची में 'मोजा-ए-अहनी' का उल्लेख लोहे की जुराब के अर्थ में है२५। विद्यापति ने भी मोजा को घुड़सवार का वेश कहा है२६।

सरमोजा—फारसी शब्द सरमोज है जो मोजे या जूतों के ऊपर पहना जाता था२७।

---

१४ तजान भीति वान जीति चमरेहि मण्डिआ—कीर्ति०, ४। ३८
१५ पदमा०, ४६। ४। १६ वही, ४८८। ६
१७ स्टाइनगैस, फारसी अगरेजी शब्दकोश, पृ० २७५।
१८, वृ० हि० कोश, पृ० ५२०। १९ कान्हडदे प्रबन्ध, पृ० ४०
२० वही, पृ० ७१। २१ पदमा०, ५१२। ४
२२ ब्लाखमैन अनूदित, आईन० पृ० ११८ फलक १४ चित्र ५५।
२३ पदमा० ५१२। ४
२४ कान्हडदे प्रबन्ध पृ० ४७
२५ ब्लाखमैन अनूदित, आईन० की अस्त्र सूची क्रमांक ७१
२६ कीर्तिलता ४। ६४
२७, स्टाइनगैस—फारसी कोश पृ० ६६८

विद्यापति ने इसे भी मोजा ही कहा है[२८] किन्तु उनमें से एक सरमोजा अवश्य होना चाहिए, जैसा कि ज्योतिरीश्वर ने वर्णन किया है।

तुर्क घुड़सवारों की वर्दी में विशेष प्रकार का यह जूता (सरमोजा) अश्वारोहण के समय पहना जाता था।

गान्ती—सं० गात्रिका अर्थात् गात्ररक्षक (अंगरक्षक) विशेष प्रकार से सिर और कपोलों को ढंकते हुए चादर बांधने के ढंग को आज भी मैथिली में गांती कहते हैं।

वघञ्ुह—वघमुह—व्याघ्रमुख से इसका अभिप्राय है।

अश्वारोही सैनिक उक्त वेश-भूषा के अतिरिक्त वक्षस्त्राण अर्थात् सीनाबन्द (**कुचओटा**) पहनता था। जो रत्नजटित लोहे की चादरों (लोहाक कतरा हीराक बेधल) का बना और सोने का पानी चढ़ाया हुआ (सोनपानि ढारल) होता था। वह एक लोहे का ऐसा धनुष धारण करता था जिस पर जरी के तार से लहरदार नक्काशी कढ़ी हुई होती थी[२९]।

इनके अतिरिक्त जिरह-बख्तर के अन्य भागों के नाम भी मिलते हैं—

गोआर—डा० मोतिचन्द्र ने इसकी तुलना **'घोंघो'** (आईन०, १। ११८) से की है[३०]। जो कड़ियोंदार झालरवाला टोप मालूम पड़ता है। अठारहवीं शती के सुजान-चरित में 'झिलम टोप' नाम से इसी का वर्णन लगता है[३१]।

झवक—(अं० बाडो आर्मर [३२]) इसे अरबी में 'जुब्बः' कहा है जिसका अर्थ है लम्बा अँगरखा या चोगा[३३]। अबुलफजल ने इसे 'जैवा' कहा है[३४]। गोस्वामी तुलसीदास ने सम्भवतः इसे ही 'अंगरी' नाम दिया है[३५]। डा० अग्रवाल के अनुसार अंगुलीयक या अंगूठी के आकार की कड़ियों को मिलाने से बना होने के कारण इसका यह नाम पड़ा[३६]। इस प्रकार का अंगरखा जिरह कहलाता था और दूसरे प्रकार का बख्तर था जो

---

२८. कीर्तिलता ४। ६४

२९. 'नोहा (लोहा) सारंग के वाहर गाण्डल पलिके अदरे सोनपानि उतरगे', वर्ण०, पृ० ३२

३०. कास्ट्यूम्स ऐंड टेक्सटाइल्स इन दि सुल्तानेत पीरियड, जर्नल आफ इंडियन टेक्सटाइल हिस्ट्री : कैलिको म्युजियम आँफ् टेक्सटाइल्स, अहमदाबाद, पृ० १९

३१. सुजानचरित, पृ० ११२।

३२. डा० मोतीचन्द्र. उपरिवत्

३३. उर्दू-हिन्दी शब्दकोश पृ० २५३। ३४. आईन०, १। ११८, शस्त्र सूची, क्र० ५६

३५. अयो०, १९। १। ३। ३६. कला और संस्कृति, पृ० २६२

पसलीदार होता था। उसमें आगे पीछे आइने की शक्ल के चार लोहे के तवे लगे होते थे३७। मध्यकाल में ही अन्दर रुई भरकर बनाया हुआ किमख्वाब का अंगरखा जिसके ऊपर लोहे के परत जड़े रहते थे, चिलता कहलाता था। उसके भीतर मगर की पसलियाँ भी रुई में भर देते थे३८। इस प्रकार उस समय का सैनिक सिर से पैर तक बख्तर से अपने आप को ढक कर बारह हथियार (बारहबान) बांधता था।

वजरंगी—किसी दुर्भेद्य पहनावा का यह बोध कराता है (बज्र+अंगी)।

बीरबाहु—स्पष्टतः यह भुजत्राण (Arm plates) है।

बगलइचा—पार्श्वत्राण (साइड प्लेट्स Side plates) है।

गान्डी—कपोलत्राण (चीक प्लेट्स Cheek plates), प्राकृत 'गण्ड' से इसकी व्युत्पत्ति है, जिसका अर्थ कपोल है३९।

केंछू—इसकी व्युत्पत्ति विद्यापति के केचुआँ४०, कचुआ४१ अथवा कचुक४२ से है। कुषाणकाल में कचुक केवल योद्धागण, शिकारी और द्वारपाल ही पहनते थे४३। ललितविस्तर से भी इसकी पुष्टि होती है४४। सांची के चित्रों में धनुर्धारी पूरे बांहवाला कचुक पहने दिखलाई पड़ते हैं४५। सांची के स्तूप न० २ पर एक सिंह से लड़ते हुए सिपाही की आकृति है। यह सिपाही आधे बाह का घुटनों तक लटकता कंचुक पहने है जो कमरबन्ध से बधा है४६। बाग के एक भित्ति-चित्र में सत्रह घुड़सवारों का एक समूह तरह-तरह के कचुक पहने है। घुड़सवारों का सरदार नीली बुंदकीदार पोला कचुक पहने और पास का दूसरा सवार फूलदार चारखाने का कचुक। यह बारबाण सा है४७।

कवाइ—घुड़सवार सैनिक 'कवाइ' नामक दोहरा लंबा अंगरखा पहनते थे। अरबी में

---

३७. पटियाला—म्यूजियम तथा रामनगर (काशी) किले में इसका नमूना देखने को मिला है।

३८ कला और संस्कृति पृ० २६२।

३९ पाइअ०, पृ० २८२

४० विद्यापति पदावली, २०८। ९

४१ वही, २२३। ८ ४२ वही, १६५। ५

४३ डा० मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, पृ० ९३

४४ ललितविस्तर, पृ० ४७

४५ प्रा० भा० वेश-भूषा, आ० १०७। ४६ वही, आकृति ४८

४७. मार्शल, दि बाग केव्स, प्ले० एफ०

इसे 'कबा' कहते हैं[४८]। यह बिना आस्तीन की लम्बी पतली मिर्जई जैसा होता था और अनेक प्रकार के रेशम से बनता था। इनमें कुछ के नाम उत्पत्तिस्थान से संबंधित थे।

देवा (देवांग)—यह जरीदार वस्त्र संभवतः उड़ीसा में तैयार होता था। डा० मोतीचन्द्र ने पारस से भी इसके आयात की संभावना बताई है[४९]।

सेवांग—वर्णरत्नाकर में अन्यत्र सर्वांग[५०] नाम से इसका उल्लेख आया है। जिसका प्राचीन काल में ही अस्तित्व था।

शूरी—
सेनशूरी— वर्णरत्नाकर के ही 'शूचीसोन'[५१] का पाठान्तर प्रतीत होता है, जो संभवतः प्रतिलिपिकार के प्रमाद के कारण हुआ है। इसका वास्तविक अर्थ है सोने के बेलबूटेदार रेशमी वस्त्र।

गादीपलि—गद्देदारवस्त्र से मतलब लगता है।

गाजीपलि—इस प्रकार के वस्त्र के पल्ले पर गजदल चित्रांकित किया जाता था। जैन लघुचित्रों (मिनिएचर) में ऐसा चित्र मिल जाता है।

सोनपलि—सुनहले पल्ले का रेशमी वस्त्र।

हाथी के सामान—

हाथी के सामान आदि की भी ज्योतिरीश्वर ने महत्वपूर्ण शब्दसूची दी है जो इस प्रकार है—

वाग—सं० वल्गा—प्रा० वग्गा[५२]—हिं० बाग अथवा रास। यह उसके गले में बांधा जानेवाला रस्सा ज्ञात होता है जिसे कौटिल्य ने 'उत्तर' कहा है। (अर्थ०, प्र० ४८)।

पलिवाग—हस्तिविद्या के प्रणेता पालिकाप्य मुनि के नाम पर हाथी की संज्ञा 'पलि' (—करेणु) है। पलिवाग से तात्पर्य उसको कसनेवाले रस्से से लिया जा सकता है। कपड़े की वाग (जेरबन्द) से तात्पर्य है।

विजयघण्ट—बड़ा घंटा। सभाशृंगार के गज सम्बन्धी दो वर्णकों में इसका उल्लेख आया है[५३]।

वीरउण्डि—वीरतुण्डि। तुण्ड कहते हैं सूंड के पहले हिस्से को। और कुण्डि भी सिर को कहते हैं। यहाँ 'वीरउण्डि' से हाथी के सिर के कवच का बोध होता है।

---

४८. उर्दू हिन्दी शब्दकोश, पृ० ९८
४९. कास्ट्यूम्स एण्ड टेकस्टाइल्स, पृ० १९
५०. वर्ण० पृ० २२   ५१. वही
५२. पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ७३७
५३. 'रूप्यमय घंटानाद, जेहना जगत्र सगलइ जयवाद'—सभा० पृ० ६५, ६६

साकल—लोहे का बना पादबंधन।५४। अलंकरण के लिये सोने का भी बनता था५५। कौटिल्य ने इसे परिक्षेप कहा है (अर्थ०, ८८)। जायसी ने पदमावत में इसे 'गजबेल' कहा है।

पलिकार—हाथी विद्या के जानकार से अभिप्राय लगता है जो हाथी का नियन्त्रण करते थे। यह मदमत्त हाथियों को रोकने के लिए गुड़ (गुण्ड-चूर्ण) छींटता था अथवा खिलाता था। हाथी को सुखपूर्वक नवाकर वह स्पर्श करता या सहलाता था तथा अमृत के समान स्वादिष्ट दाना-पानी सानकर खिलाता था५६।

सेठिना—यह प्रा० सेढिया या सेटिका५७ लगती है जो एक सफेद मिट्टी अर्थात पत्थरखली थी और उसके मंडन के काम आती थी।

पदाति की वेश भूषा—

धनुर्धर, छुरिधर, खड्गधर, फरिआइत, नामि, महसाजोत कमाख एव शूलधर सैनिकों की वेशभूषा इस श्रेणी में आती है।

धनुर्धर सैनिक धनुष, तूणीर और अग्निवाण वहन करके वध्या महिस५८ के पीछे चलते थे। उनके हाथों में झगला (झगा, झगुला अर्थात् झूल) और कनिआर५९ (कोणदार भाले) होते थे। उनके हाथों में महिस की नासारज्जु (नाथक पगही) होती थी जिसे ढील देतेही तीर के समान वह भाग पड़ती थी।

फरिआइत सैनिक निम्नलिखित वेशभूषा धारण करते थे—

तरुडी पाग—यह एक प्रकार की तिरछी पगडी थी जिसे सैनिक सिर पर धारण करते थे। प्राचीन साक्ष्य के अनुसार व्रात्य अपनी पगड़ी टेढ़ी बाधते थे (तिर्यङ नद्ध)६०। भरहुत के

---

५४ 'लोहनी सांकल ओडइ'—सभा०, गजवर्णन (९), पृ० ६७

५५ 'सुवर्णमय साकलि करी अलंकर्या'—वही, पृ० ६५

५६ 'गुड सुहलव पलिस (प्रा० पलिसय—स्पर्श करना) सानि साम्रत', वर्ण०, पृ० ३२

५७ पाइअ०, पृ० ५७१

५८ वाहिनि (वर्ण०, पृ० ३३)—वाहिलि (वर्ण०, पृ० ३५)—बहिला (मिथिला भाषा कोष, पृ० २५३)

५९ हेम शब्दानुशासन के 'सकण्णी भल्लि' से तुलनीय है। पाइअ सद्दमहण्णवो (पृ० २२०) में 'कण्णिजा' (स० कर्णिका) का अर्थ भी कोणदार अस्त्र-विशेष मिल जाता है

६० प्रा० भा० वेशभूषा, पृ० २३

अर्धचित्रों में चौबीस प्रकार की पगड़ियां मिलती हैं[६१]। अन्य छः प्रकार की पगड़ियां सांची में मिली हैं[६२]। लेकिन तरुडी पाग इनसे भिन्न थी।

घाग—घुटने तक लटकती हुई मिरजई थी।

सन्नाह—वर्णरत्नाकर का पाठ 'सन्नाह थरणे' है। 'थरणे' की व्युत्पत्ति 'स्तरण' से है। सैनिक सन्नाह अर्थात् जिरह-बख्तर पहने होते थे। कान्हड़दे प्रबन्धकाव्य (१४५५ ई०)[६३] में 'सनाह' तथा पद्मावत में 'सनाहा'[६४] पाठ एक ही अर्थ में आया है। वर्णरत्नाकर का 'सन्नाह' पाठ अपने मूल संस्कृत रूप में सुरक्षित है। इसके जिरह और बख्तर नाम से वस्तुतः दो भेद थे। लोहे की कड़ियों का बना हुआ अंगरखा 'जिरह' कहलाता था और बख्तर उस प्रकार का जिरह था जिसमें आगे-पीछे लोहे के तवे लगे होते थे। आईन अकबरी में इसे 'चार आईन' कहा है[६५]।

ठाठ—टाठ नामक सन का मोटा वस्त्र मालूम होता है।

समवर्ष—कसने के अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थ स्पष्ट नहीं। अनुमानतः गोरखे लोगों द्वारा कमर से नाभि तक कसनेवाले वस्त्र 'पटुका' सदृश शस्त्र को बाँध रखनेवाला कोई साधन होगा।

रमनगीफरो—(?)

इन फरिआइत सैनिकों के कन्धे पर तलवारें शोभती थीं और ये इतने निर्भीक होते थे कि यम से भी युद्ध करने में समर्थ थे[६६]। विद्यापति के कथनानुसार भी ये शरीर से बड़े तगड़े थे और इनकी तलवारों के अग्रभाग लहराते हुए चमकते थे[६७]।

छुरिहरा (छुरिधर)—सैनिक सम, विषम, तेज, विखण्ड, धूसर (धौलछोह) और विचित्रित (चित्तमथांग) छुरियों को धारण करते थे[६८] लेकिन इनके वस्त्र का उल्लेख नहीं आया है। खड्गधारी युवक योद्धा सर्प के समान खड्ग धारण करता था।

नाभि, महसाजोत और कमाख के हाथ में शरत के चांद के समान स्वच्छ एवं गोलाकार ढाल (चमोजा) शोभती थी[६९]। यह बहुधा गेंड़े की खाल की बनती थी। लेकिन

---

६१. वही, पृ० ६५-६८

६२. वही, पृ० ७९

६३. कान्हड़देप्रबन्ध, पृ० ४७

६४. पदमा०, ५१२।४

६५. ब्लाखमैन अनूदित आईने अकबरी, शस्त्रसूची, क्र० ६०

६६. 'कन्धउरी तरवारि यमका मुह लागइ समथीह', वर्ण, पृ० ३३

६७. चलु फरिआइक अंगे अंगे चंगे। चमक होइ खग्गग्ग तरंगे॥ कीर्त्ति०, ४। ७०-७१

६८. वर्ण०, पृ० ३३   ६९. वही

१९२० ई० के आसपास बम्बई आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल ग्लैडस्टोन सोलोमन ने भारतीय कला को पुनरुज्जीवित करने के लिए एक नया आंदोलन प्रारम्भ किया। इस आंदोलन का ऐतिहासिक महत्व केवल इतना था कि यह हैवेल और अवनीन्द्रनाथ के कला आन्दोलन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी। प्रिंसिपल सोलोमन द्वारा आरम्भ किए गए आन्दोलन के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकर्ता फैज़ी रहमान थे जो सोलोमन के समसामयिक थे तथा उन्होंने सोलोमोन के साथ ही लंदन की रायल एकेडेमी में शिक्षा प्राप्त की थी। इस आन्दोलन के अनुयायियों में दूसरे हैं—एस० फेरनान्डोस, जी० एच० नागरकर, दामेरला रामाराव और जे० एम० अहिवासी। इसका विशेष श्रेय जगन्नाथ अहिवासी को मिलना चाहिए कि बम्बई में कम से कम भारतीय कला के पक्ष में कुछ चर्चा हुई। शीघ्र ही बंगाल और बम्बई के नए कलाकार परस्पर विचारों के आदान-प्रदान के उद्देश्य से एक दूसरे के समीप आए। विचारों का यह आदान-प्रदान कितना सफल सिद्ध हुआ, इसका अनुमान अहिवासी और पुलिनबिहारी दत्त के अनुयायी बम्बई के कलाकारों तथा सोसाइटी के कलाकारों के कार्यों के तुलनात्मक अध्ययन से लगाया जा सकता है। प्राय उनकी रेखाओं और रंगों में इतनी समानता रहती थी कि दोनों के बीच के अंतर को देख सकना कठिन था। बम्बई आर्ट स्कूल की शैली में प्रारंभिक परिवर्तन अमृत शेरगिल और ज्योर्ज कीथ के प्रभाव के फलस्वरूप हुए।

अमृत शेरगिल का जन्म यूरोप में हुआ और शिक्षा पेरिस में प्राप्त की। वे फ्रेंच पश्चात्-प्रभाववादी कलाकारों से प्रभावित थीं। उदाहरण के लिए उनके कार्य पर गौगें का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। गौगें के समान शेरगिल भी भारत में आदिम जीवन और उष्ण प्रदेश के रंगों की तलाश में आई थीं। उस समय बम्बई के समकालीन कलाकार यूरोपीय कला आदर्शों के नाम पर परछाईं (कास्टशैडो) से प्रभावित एकरंग प्रधान (मोनोक्रोम) चित्र बना रहे थे। शेरगिल के चित्र बिना किसी परछाईं-प्रभाव के प्रयोग के सजीव रंगों से पूर्ण थे। इसमें संदेह नहीं कि बम्बई के लोगों के लिए ऐसे चित्र आश्चर्य के विषय थे।

अपने जीवनकाल में शेरगिल प्रभावशाली कलाकार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकीं। अपनी मृत्यु के बाद यथार्थवादी कलाकारों को उन्होंने बहुत प्रभावित किया और उन्हें एक बिल्कुल नई दिशा की ओर मोड़ा। उनके द्वारा प्रभाववादी रंग प्रयोग को उनकी ऐसी विशेषता थी जिसने तैल-चित्र बनानेवाले कट्टर भारतीय कलाकारों को प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त उनकी वर्ण्य-विषय की विविधता और मौलिकता ने भी नवीन प्रयोग करनेवालों को प्रेरणा प्रदान की। किंतु यह समझना भूल होगी की शेरगिल ने कोई बिल्कुल नवीन वस्तु दी। उनके रंगों के प्रयोग के विषय में हम कह सकते हैं कि अवनीन्द्रनाथ और उनके अनुयायी कलाकार

कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र में विविध विधियों और शलियों का समन्वय प्रस्तुत कर चुके थे ; यद्यपि शेरगिल के समर्थक, कला समीक्षक इसे स्वीकार नहीं करते। साहित्यिक अभिप्रायों और विषयों के प्रयोग के संबंध में अवनीन्द्रनाथ और शेरगिल की धाराओं में कोई विशेष भेद नहीं है। किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि रवि वर्मा के बाद तैलचित्रों के क्षेत्र में एक निश्चित परिवर्तन लाने का श्रेय शेरगिल को है।

शेरगिल के पश्चात् बंबई के कला क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय प्रभाव सिंहल के ज्योर्ज कीथ का पड़ा। पहली बार उन्होंने बंबई के कलाकारों को अमूर्त (एब्स्ट्रैक्ट) कला के प्रति सजग किया। इन दो कलाकारों के अतिरिक्त श्री लांगामार और लेडन नामक दो कमर्शियल कलाकारों का भी उल्लेख करना आवश्यक है।

रंगों की प्रयोग विधि में परिवर्तन अमृत शेरगिल ने किया और रूपाधारित (फार्मल) कला का ज्योर्ज कीथ से आरंभ हुआ और पिकासो का नाम भी परिचित हो गया। संक्षेप में १९४०-५० के बीच कलकत्ता, बंबई और मद्रास के कला विद्यालयों ने अमूर्त कला के अपने प्रयोगों के द्वारा प्रकृतवाद (नैचुरलिज्म) की पूर्ति की। यदि औपचारिक रूप में न सही, कम से कम अनौपचारिक रूप में सभी कला विद्यालयों में आधुनिक कला के प्रयोग होते रहे हैं।

योरोप में प्रभाववाद से अमूर्त या अ-विषय प्रधान कला तक पहुँचने में विकास की अनेक सीढ़ियाँ दिखती हैं। किंतु भारत में तथाकथित आधुनिकतावादी कलाकारों की कृतियों में इस प्रकार का क्रमिक विकास नहीं मिलता। वंगाल में किसी न किसी रूप में कला सृष्टि की अमूर्त विधि को आत्मसात करने के लगातार प्रयत्न होते रहे।

अभी तक हमने कलकत्ता और बंबई केवल दो नगरों के कला संबंधी आंदोलनों की चर्चा की है किन्तु इन नगरों को छोड़कर वास्तव में भारत में अन्यत्र कहीं भी कला की ऐसी परंपरा देखने में नहीं मिलती जो कलकत्ता, बंबई या अन्य किसी सरकारी कला विद्यालय या अवनीन्द्रनाथ की कला शैली के प्रभाव से बिल्कुल स्वतंत्र रही हो। प्रान्तीय कला-शैली से हमारा तात्पर्य भारत के कुछ बड़े नगरों की कला शैलियों से है और आधुनिक भारत में कला की परंपराओं और प्रवृत्तियों को समझने के लिए इन विविध-रुचि-संपन्न नगरों की कला अभिरुचियों का समझना पर्याप्त है।

अब हम यह देखेंगे कि तीन परंपराएँ — अवनीन्द्रनाथ की परंपरा, आर्ट स्कूलों द्वारा स्थापित परंपरा और इधर के वर्षों की फ्रांसीसी ढंग की अमूर्त कला की परंपरा — विभिन्न प्रान्तों में किस प्रकार व्यक्त हुईं तथा परस्पर एक दूसरे के प्रति उनकी क्या प्रतिक्रिया हुई।

भारत में अंतर्प्रांतीय सांस्कृतिक आदान-प्रदान केवल राष्ट्रीय पुनर्जागरण के समय ही संभव हुआ। दक्षिण भारत स्वामी विवेकानंद, एनीबेसेंट, डा॰ जेम्स एच॰ कजिन्स, कृष्णमूर्ति और थियोसोफीकल सोसायटी के आधुनिक विचारों के संपर्क में आया। इसके फलस्वरूप अवनीन्द्रनाथ का प्रभाव बडी आसानी से दक्षिण भारत में पहुंच सका। अवनीन्द्रनाथ के प्रथम शिष्यों में से अन्यतम वेंकट अप्पा ने कला की इस नवीन प्रवृत्ति को दक्षिण भारत में लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया।

इस नई परंपरा की स्पष्टतम छाप महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन के समय हमें दिखती है। इसी समय आंध्र नेशनल यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई और भारतीय कला की शिक्षा के लिए नए प्रयास किए गए। देवी प्रसाद के योग्य नेतृत्व में मद्रास आर्ट स्कूल से नवीन कला परंपरा के प्रभाव का तीसरा पक्ष प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे दक्षिण भारत के नवयुवक कलाकारों ने प्राचीन परंपरा का समन्वय करते हुए अपनी एक नवीन शैली की उपलब्धि की। इस प्रयास के फलस्वरूप आगे चलकर लोक-कला से मिलती जुलती एक परंपरा का विकास हुआ।

दक्षिण भारत के पश्चात् गुजरात के नए कला आंदोलन का उल्लेख करना आवश्यक है। यहां भी नवीन राष्ट्रीय चेतना का व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है। गुजरात में आधुनिक कला और साहित्य को असहयोग आंदोलन के समय सच्ची अनुभूति मिली। बंबई आर्ट स्कूल से यद्यपि गुजरात के कलाकार प्रभावित हुए, किन्तु पश्चिम का प्रभाव कभी प्रमुख स्थान नहीं पा सका। जो कलाकार आधुनिकता या अमूर्त कला की नवीन परंपरा का अनुसरण कर रहे हैं उन्हें बंबई या दिल्ली के कलाकारों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। बंबई में वाय॰ के॰ शुक्ल पहिले कलाकार थे, जिन्होने चीनी कला परंपरा को सीखने का प्रयास किया। दूसरी ओर गुजरात की आधुनिक कला का एक महत्वपूर्ण अंग है—गुजरात की प्राचीन कला धारा या जैन कला परंपरा। बंगाल में जामिनी राय और उनके अनुयायी लोक कला का अनुकरण करने की चेष्टा कर रहे थे। संभव है उनके कार्य ने गुजरात या दक्षिण भारत के कलाकारों को लोक कला के प्रति प्रेरित किया हो और यह भी संभव है कि स्वतन्त्ररूप से वे इस ओर उन्मुख हुए हों। गुजरात के कलाकारों की मौलिकता का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। बंगाल के अनेक कलाकार गुजराती कलाकारो से परिचित हुए और गुजरात से अनेक कलाकार बंगाल में कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए शान्तिनिकेतन आए। दूसरी ओर अहिवासी और रावल का प्रभाव भी कम नहीं था।

सब स्थानों की अपेक्षा राजस्थान आधुनिकता से प्राय मुक्त ही रहा क्योंकि राजस्थान

में कलकत्ता, बंबई या दिल्ली जैसा कोई सर्वदेशीय रुचि संपन्न नगर नहीं रहा। मध्ययुगीन जीवन-आदर्श के साथ साथ राजस्थान में हस्तशिल्पों की शक्तिशाली जीवित परंपरा चली आ रही है। संभव है योरोपीय कला और परंपरा के प्रति राजस्थान की उदासीनता के लिए मध्ययुगीन प्रभाव ही उत्तरदायी हो। सन् १९२० के पश्चात् जयपुर आर्ट स्कूल में शैलेन्द्रनाथ दे के नेतृत्व में चित्रकला की भारतीय शैली को प्रवेश मिला। उत्तर प्रदेश में कला के क्षेत्र में जागरण का केंद्र लखनऊ का आर्ट स्कूल था। १९२० के पश्चात् असित कुमार हलदार, ललितमोहन सेन, हिरण्मय राय चौधुरी तथा अन्य कलाकारों ने नया उत्साह प्रदर्शित किया। कालान्तर में इलाहाबाद तथा काशी के विश्वविद्यालयों के ललित कला विभागों ने भी कला के क्षेत्र में योग दिया।

मध्य प्रदेश की कला प्रवृत्तियाँ बंबई के आर्ट स्कूल से संबद्ध रही हैं। मध्य प्रदेश की कला प्रवृत्तियों में कोई स्वतंत्र प्रवृत्ति अभी तक नहीं दिखाई पड़ी। इसी तरह बिहार, उड़ीसा और आसाम में कला के क्षेत्र में जागरण का इतिहास और भी संक्षिप्त है। इन प्रान्तों में आधुनिक कला की परंपरा की नींव डालने का श्रेय बंबई, कलकत्ता और मदरास में शिक्षाप्राप्त कलाकारों को है। . दिल्ली की कला पर प्रान्तीयता का सबसे कम प्रभाव है। दिल्ली को भारत में आधुनिकता का केंद्र कहा जा सकता है। इधर के वर्षों में भारत को राजधानी में कला से संबंधित नाना संपर्कों और अभिरुचियों का विकास हुआ है। भारतीय कला परंपरा की नींव दिल्ली में १९१६ में पहले पहल शारदा उकील ने डाली। एक समय पूरा उत्तरी भारत उनकी शैली से प्रभावित था। उनके द्वारा स्थापित उकील आर्ट स्कूल अभी अपनी निज की परंपरा का अनुसरण किए जा रहा है। किन्तु आधुनिक वातावरण में शारदा उकील की शैली के प्रभाव का प्रायः लोप-सा हो चला है। दिल्ली के कला क्षेत्रों में आधुनिकता का प्रवेश कराने का श्रेय शैलेश मुकर्जी को है।

विभिन्न प्रान्तों की कला प्रवृत्तियों का जो उल्लेख किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि प्रान्तों में नवीन चेतना में प्रान्तीय कला परंपराओं का योग कम था, प्रेरणा की कई दिशाएं मिलती हैं—इन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है (१) कला विद्यालयों की यथार्थवादी कला (२) अवनीन्द्रनाथ के द्वारा प्रवर्तित भारतीय कला या बंगाल की कला धारा और (३) आधुनिक या अमूर्त शैली की कला।

अमूर्त कला शैली (एब्स्ट्रैक्ट कला) का अभिप्राय काफी कुछ है। इस शैली से हमारे देश में सामाजिक यथार्थवाद का उदय हुआ यद्यपि वह अमूर्त नहीं है। इस विषय में हमारे कलाकार एक ओर तो मैक्सिको के फ्रेस्को रेवेरा जैसे कलाकारों के अधिक निकट दिखते हैं

तथा दूसरी ओर पौल क्ली, मोंद्रियन, गोगे, मतिस्स तथा पिकासो से मिलते दिखते हैं। उनकी स्थिति को समझने के लिए काण्डीनिस्की के शब्द स्मरणीय हैं—'रूप के विषय में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह जानना है कि वह आंतरिक आवश्यकता के फलस्वरूप उदित हुआ है अथवा नहीं।' इस आदर्श को मानकर चलनेवालों में कलकत्ता, दिल्ली शिल्पी चक्र, बम्बई, बड़ौदा, मद्रास और गुजरात के प्रगतिवादी कलाकारों का उल्लेख किया जा सकता है। आज इस आदर्श का पालन अनाकृतिमूलक कलाकारों द्वारा सबसे अधिक होता है।

अभी तक मैंने उन्हीं कलाकारों का उल्लेख किया है जो आधुनिकवाद के अगुआ रहे हैं। उनमें से अधिकांश ने किसी न किसी रूप में भारतीय आदर्शों को अंगीकार किया—या तो शैली की दृष्टि से या रीति की दृष्टि से या रूढ़ि की दृष्टि से। जिन कलाकारों में आधुनिक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं तथा जो किसी न किसी प्रगतिवादी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनमें से कुछ ये हैं ए० बेंद्रे, के० के० हेब्बर, श्यावक्स चावडा, के० सुब्रह्मण्यम्, के० सी० एस० पणिक्कर, के० श्रीनिवासुलु, प्राणनाथ मागो, हरकृष्ण लाल, एम० एफ० हुसैन, मोहन सामन्त, आर० डी० रावल, पद्मसी। इन कलाकारों ने भारत के किसी न किसी आर्ट स्कूल में शिक्षा प्राप्त की है। प्राय सभी ने यूरोप यात्रा की है और कला की आधुनिकतम प्रवृत्तियों से परिचित हैं। उन्नीसवीं शती के कलाकारों की अपेक्षा पश्चिम की नई धाराओं का परिचय प्राप्त करने तथा अनुसरण करने के लिए ये अच्छी स्थिति में थे।

बंगाल में आधुनिकतावाद का युग १९२० में आरंभ हुआ। किन्तु बंगाल में प्राच्य तथा भारतीय कला परंपरा ने आधुनिकतावाद को थोड़ा परिवर्तित किया। यह आधुनिकतावाद प्राच्यवाद से पूर्ण रूप से मुक्त है। यदि किसी प्रकार का प्राच्य प्रभाव है भी तो वह आधुनिकतावाद के माध्यम से ही आया होगा। इस समय आधुनिकतावाद की दो भिन्न प्रवृत्तियाँ दिखती हैं—एक है प्राचीन भारतीय परंपरा को आत्मसात् करने की और दूसरी है अपने विशुद्ध रूप में योरोपीय बुद्धिवादी परंपरा का अनुसरण करने की।

जिस किसी दृष्टि से विचार किया जाय, आज सबसे शक्तिशाली प्रभाव आधुनिकतावाद का है। जिस प्रकार उन्नीसवीं शती में यथार्थवाद को हृदयंगम करने का एक प्रयास किया गया था और इसके द्वारा योरोप की समानता करने की कल्पना की गई थी, ठीक वैसे ही हमारे आधुनिक कलाकारों में अमूर्त कला में पारंगतता प्राप्त करके योरोप के समान बनने की आकांक्षा दिखती है। जापानी कला पर फ्रांसीसी प्रभाववादियों का प्रभाव १९०९ के आसपास लक्षित हुआ। १९२० तक पहुँचते पहुँचते जापानी कलाकारों ने फ्रांसीसी कला के आधुनिक विधि और शैलियों को प्राय हृदयंगम कर लिया था। आधुनिकतावाद का

दूसरा प्रभाव चीन और भारत पर समान रूप से एक साथ लक्षित हुआ। १९१८ से १९२० के बीच चीनी जापानी और भारतीय कलाओं पर योरोपीय प्रभाव प्रायः समान रूप से पड़ा। आधुनिकतावाद में जो १९४० के बाद कलकत्ता और बंबई में प्रारंभ हुआ, अनेक विकास और परिवर्तन होने अवश्यंभावी हैं।

आज हमारे देश का शिक्षित समाज न्यूनाधिक रूप में प्रगतिवादी साहित्य या कला से परिचित है। किन्तु प्रगतिवादी आंदोलन की विभिन्न दिशाएँ रही हैं और उसकी प्रक्रियाएँ जटिल रही हैं। सबसे पहले पेरिस में प्रकृतवादी कला परंपरा के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई। कहा जा सकता है कि योरोपीय कला में प्रभाववाद ने एक नए अध्याय का आरंभ किया। प्रभाववादी ही सर्वप्रथम प्राच्य कला परंपरा के प्रति सजग हुए। योरोप में पुनर्जागरण काल के पश्चात् प्राच्य कला के प्रति उत्सुकता एक प्रकार से समाप्त ही हो गई थी। इस प्रसंग में प्रभाववादी कलाकारों का उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने जापानी रंगीन छपाई के तत्त्वों को संग्रह करने का प्रयत्न किया। यह प्राच्यवाद आगे चलकर कई शाखाओं में विभक्त हो गया। एक ओर तो अभिव्यंजनावाद, अतियथार्थवाद आदि की परंपराएँ थीं और दूसरी ओर क्यूबिज्म और अमूर्त कला की परंपराएँ थीं। जिस प्रकार प्रभाववादी जापानी या फारसी कला शैली के समीप आ रहे थे, उसी प्रकार क्यूबिज्म में सबसे पहले नीग्रो मूर्तिकला या अफ्रीकी चेहरों का प्रभाव लक्षित हुआ।

जो कलाकार क्यूबिज्म तथा अमूर्त कला में विश्वास करते थे, पहले तो उन्होंने रूपात्मक वस्तुएँ केवल संरचना और आयाम में चित्रित करने का प्रयास किया। क्रमशः उनके आदर्श की अनेक परीक्षाएँ हुईं और अब वह निर्विषयक कला (non-objective art) की स्थिति को पहुँच गया है। निम्न अवतरण से निर्विषयक कला का उद्देश्य स्पष्ट हो सकेगा:—

'उसका आधार चित्रीय साधनों की नितान्त शुद्धता है, यहाँ तक कि वह पूर्णरूप से अपने ही गुणों और नियमों के आधार पर निर्मित कृति को बौद्धिकरूप में जगत् की किसी भी वस्तु से न मिलने योग्य अपने स्थान में एक अद्भुत सृष्टि का रूप देना चाहते थे। निर्विषयवादी अपने माध्यम रेखा और रंग का प्रयोग किसी घटना, ऐतिहासिक दृश्य, जड़ प्रकृति, व्यक्तिमूर्ति या अन्य किसी को चित्रित करने के लिए प्रयुक्त नहीं करता, किन्तु संगीत रचयिता के समान मनोवैज्ञानिक रूपरेखा या समानता बनावट, दृश्यभूमिका, प्रकाश और छाया को प्रवेश किए बिना अपनी चेतना का अनुसरण करते हुए स्वतंत्रता पूर्वक सृजन करता है।' जो उद्देश्य यहां बताया गया है वह विवादास्पद है। निर्विषयवादी कलाकारों की सबसे महान् उपलब्धि यह है कि वे एक ऐसे वातावरण का निर्माण कर सके जिसके फलस्वरूप वे अधिक सूक्ष्म रूपों की रचना

कर सके, रचना विधि मे लचीलापन ला सके और अभिव्यक्ति की दिशा मे एक नए मार्ग का सूत्रपात किया। यह घनवादी (क्यूबिज्म) अमूर्तवादी (एब्स्ट्रैक्ट आर्ट) तथा रचनात्मकता-वादी (कन्स्ट्रक्टीविज्म) कलाकारों के कठोर और यन्त्रवत कला के ठीक विपरीत था।

वह आदर्श जो घनवादी और अमूर्त कला के परिणाम स्वरूप सामने आया, योरोपीय कला को पुनर्जागरण के प्रभाव से एकदम बाहर निकाल ले आया और नाना प्रकार मे आदिम कला से मिला दिया। निर्विषयक कला का आदर्श ग्रीक कला अथवा पुनर्जागरण के कला आदर्श से और भी बहुत दूर है। सुदूर पूर्व की कला के साथ कुछ समानता है। यही कारण है कि निर्विषयवादी कलाकारों में से पोलोक, जैक्सन तथा कुछ अन्य अति आधुनिक कलाकार चीनी लेखन कला मे रुचि लेते हैं।

यद्यपि निर्विषयक कला तथा सुदूर पूर्व की कला में बाह्य समानता है उनमें आत्मिक एकता बिल्कुल ही नहीं है।

उपसंहार—इस शती में आधुनिक भारतीय कला के विकास की रूप रेखा हमने प्रस्तुत की है। यद्यपि हमने अपनी समीक्षा को चित्रकला तक ही सीमित रखा है, किन्तु यह समीक्षा कला के अन्य क्षेत्रों—जैसे मूर्तिकला, स्थापत्य कला तथा अन्य दूसरी कला—प्रवृत्तियों पर भी लागू हो सकती है।

स्थापत्य कला के क्षेत्र मे नवीन और प्राचीन के बीच बहुत बड़ा अन्तर दिखलाई पड़ता है। इस अंतर को कम करने का प्रयास दो आधुनिक वास्तु कला विशारदों—सुरेन्द्रनाथ कर और सुरेश चन्द्र चटर्जी—ने किया। किन्तु इन प्रयासों की तुलना में आधुनिक जीवन के क्षिप्र परिवर्तन तथा स्वरूपता की समानता अधिक शक्तिशाली शक्तियाँ हैं। इसका परिणाम हमें भारत में दिखता है एक ओर जयपुर के समान पुरानी वास्तुकला का नमूना दूसरी ओर चण्डीगढ़ जैसा अत्यंत आधुनिक ढंग का नगर।

मूर्तिकला के क्षेत्र में प्रकृतवाद के दिन अब लगभग बीत गए। रोडिन, एप्स्टाइन, हेनरीमूर अब प्रभावशाली शक्तियाँ हैं। इस दृष्टि से आधुनिक मूर्तिकला और आधुनिक चित्रकला का इतिहास एक जैसा है। स्थापत्य तथा मूर्तिकला दोनो में ही भारतीय तत्वों को आत्मसात् करने की कोई चेष्टा नहीं दिखाई पड़ती। किन्तु अन्य सामान्य कलाओं में अतीत के अनुकरण की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। अलंकरण कला में परंपरा और आधुनिकता के बीच एक सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास दिखलाई पड़ता है।

हस्तशिल्पों और पर्याप्त मात्रा में वस्त्र उद्योगों में भारतीय अलंकरण अभिप्रायों का प्रयोग करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। उद्योग के क्षेत्र में भारतीयता के लिए उत्सुकता राष्ट्रीयता या

सौंदर्य विषयक किसी विशेष जागरूकता के परिणामस्वरूप नहीं है, आर्थिक कारणों से उद्योग भारतीय परंपरा की ओर झुक रहे हैं। दुनिया के देशों के बाजार नवीन और तत्तद्देशीय अभिकल्पों (डिजायन) की मांग करते हैं। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय उद्योगों में भारतीय अभिकल्पों का प्रयोग बढ़ रहा है।

हमारा सर्वेक्षण भले ही संक्षिप्त रहा है किन्तु निष्कर्ष निकालने के लिए यह सामग्री पर्याप्त है। पहली बात तो यह है कि आधुनिक भारतीय कला के संबंध में केवल परंपरा पर आधारित दृष्टिकोण द्वारा निर्णय नहीं दिया जा सकता। आधुनिक कला पर पूर्व और पश्चिम दोनों के ही प्रभाव चिह्न दिखते हैं। पूर्वीय परंपरा की तुलना में पश्चिम का प्रभाव विशेषरूप से अधिक शक्तिशाली है। पश्चिम का जो सबसे बड़ा प्रभाव हमारी कला पर पड़ा है, वह कला की भाषा के क्षेत्र में दिखता है। यूरोप के कलाकारों ने एक नई भाषा की सृष्टि की है तथा नवीन पद्धतियों और पदार्थों का विकास किया है। विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के सहारे नाना देशों के कला रूपों के तत्त्वों को उन्होंने समझने का प्रयास किया है। प्रत्येक युग को अभिव्यक्ति की अपनी भाषा की आवश्यकता होती है। युग की इस मांग को आधुनिक युग में यूरोप की देन बहुत महत्वपूर्ण है। आज पश्चिम के कलाकारों की इस देन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कला रूप बिना विषय या तथ्य के पूर्ण हो सकते हैं या नहीं यह बहुत ही जटिल और विवादग्रस्त समस्या है। आधुनिक कला की एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति है—विषय या तथ्य की अवहेलना करना। अनेक क्षेत्रों में प्रेरणा का मूल्य भी बीते युग की बात समझी जाती है।

यह सच है कि शतियों तक प्रतिमा-विधायक कलाओं (प्लास्टिक आर्ट) पर साहित्यिक विषयों का गहरा प्रभाव रहा। आधुनिक कलाकार रूपंकर कलाओं को सभी प्रकार के साहित्यिक संसर्गों से मुक्त रखना चाहते हैं। इसमें संदेह नहीं की यह एक महत्त्वपूर्ण देन है जो कलाकारों को अपने व्यक्तिगत भावों को अधिक सीधे ढंग से व्यक्त करने में सहायता करती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से आधुनिक कलाकारों का उद्देश्य बहुत अधिक महत्त्व रखता है, यह दूसरा प्रश्न है कि उसे किस सीमा तक व्यवहार में लाया जा सकता है।

कला के सभी रूप जटिल अनुभवों के परिणाम होते हैं। किसी प्रवृत्ति की अति के द्वारा कोई कलारूप सफल नहीं हो सकता। यूरोप के आधुनिक कलाकार अनेक अतिवादी विंदुओं घनवाद, अमूर्त, निर्माणवाद आदि—में से होकर आगे बढ़े हैं। ये सम-प्रवृत्तियाँ यह दिखलाती हैं कि पश्चिम के कलाकार प्रायः एक अतिवादी प्रवृत्ति अपनाते हैं और फिर दूसरी अति पर पहुँचते हैं। कला के उस अतिवादी दृष्टिकोण का अधुनातन विकास निर्विषयक कला प्रवृत्ति में दिखता है। किन्तु इधर के अधिकतर कला-आंदोलनों में

कलाकारों के उद्देश्य और आदर्शों की परिवर्तन सूचक उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ दिखने लगी हैं।

अवनीन्द्रनाथ से लेकर भारतीय कलाकारों ने मध्यम मार्ग अपनाने का प्रयत्न किया। आधुनिक युग में भारत में प्रत्येक प्रतिभासपन्न व्यक्ति प्रेरणा पर निर्भर रहा है और कला के चिन्तनात्मक मूल्यों में विश्वास किया है। आधुनिक पाश्चात्य कला के इतिहास में ऐसी प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। सेज़ान, वानगोग, ब्रकुशी तथा अन्य अनेक कलाकार कलात्मक प्रेरणा पर निर्भर रहे और अत्यत जटिल कलाकृतियों की सृष्टि की। पाश्चात्य कलाकारों की चिरस्थायी परपरा के सबध में उनका ऐसा दृष्टिकोण है। आज परंपरा का अर्थ बिल्कुल बदल गया है। आधुनिक कलाकार के लिए अतीत की परपरा भौगोलिक सीमाओं के द्वारा अविच्छिन्न नहीं है। परपरा के प्रति इस व्यापक के परिणामस्वरूप आधुनिक यूरोप एक नया मार्ग प्रशस्त कर सका।

दुर्भाग्य की बात है कि आज पूर्व और विशेषकर भारत के कलाकारों की ऐसी धारणा है कि कला को परपरा से मुक्त होना चाहिए। जहाँ तक कला का सबध है परपरा के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु परपरा की पुनर्परीक्षा होनी चाहिए और उसकी पुनर्दृष्टि होनी चाहिए।

सभी महान् कलाकारों ने परपरा के समसामयिक दृष्टिकोण के प्रति विद्रोह किया है और साथ ही अपने उद्देश्य और आदर्शों के अनुरूप परपरा को अपनाया है। अवनीन्द्रनाथ ने परपरा की तुलना दलदल से की है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अवनीन्द्र ने परपरा से कोई लाभ नहीं उठाया। वास्तव में पग-पग पर परपरा की परीक्षा होती रहनी चाहिए। कला के क्षेत्र में अतीत को अन्तिम उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर लेने का परिणाम होगा कलात्मक विकास में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की प्रतिष्ठा। आधुनिक आन्दोलनों ने अनेक परपराओं को आत्मसात् करने में कलाकार की सहायता की है किन्तु पश्चिम के कलाकार कदाचित् ही कभी भारतीय परपरा की ओर उन्मुख हुए हों। भारतीय परपरा के प्रति उनकी उदासीनता के कारणों का पता लगाना हितकर होगा।

इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि पुनर्जागरण काल से लेकर कला चित्रकला की ओर ही विशेषरूप से प्रवाहित हुई। मूर्तिकला के क्षेत्र में कला की देन प्राय नगण्य जैसी रही और चित्रकला का प्रभाव इतना व्यापक दिखता है कि मूर्तिकला अधिकाधिक चित्रकला के समान होती गई। आधुनिक आन्दोलन भी चित्रकला के सहारे ही विकसित हुए। रोडिन से लेकर भारतीय मूर्तिकला अधिक परिचित हुई और एप्सटाइन तथा कुछ अन्य कलाकारों ने भारतीय मूर्तिकला के तत्त्वों को आत्मसात् करने का प्रयास किया, किन्तु नवीन वातावरण में भारतीय कला का प्रभाव स्थायी नहीं रह सका।

जैसा कि ऊपर संकेत किया है पश्चिम के कलाकारों ने कला-रूपों तथा अभिव्यक्ति के संबंध में अतिवाद की ओर विशेषरूप से झुके रहने के कारण विशुद्ध चित्र, विशुद्ध मूर्ति, विशुद्ध स्थापत्य की सृष्टि करने का प्रयत्न किया। क्योंकि कला विशुद्ध वस्तु नहीं है, इसलिए विशुद्धता का सिद्धान्त बढ़ नहीं सकता।

यूरोप और सामान्य रूप से सम्पूर्ण प्राचीन कला के अधिकांश पूर्व-पुनर्जागरण परंपरा के समान भारतीय कला ने दृश्यमान और स्पर्शमान अनुभूति को मिलाने की चेष्टा की। इस मेल के माध्यम से भारतीय कला में शैलीगत एक प्रकार का लचीलापन आ गया जो दृढ़ रूपात्मक कला-सृष्टि के निकटवर्ती आदर्श के बिल्कुल विपरीत है। महान् उपलब्धियों के रहते हुए भी आधुनिक कला अभी भी बेलोच और कठोर है। आधुनिक भारतीय कला में जड़ित (फ्यूजन) होने की यह प्रवृत्ति बहुत ही स्पष्ट है। आधुनिक भारतीय कला की श्रेष्ठतम कृतियों में दृश्यमान् और स्पर्शमान अनुभूति विजड़ित हुए मिलते हैं। कलाकारों की प्रेरित बुद्धि का परिणाम यह मेल (फ्यूजन है।

आधुनिक पश्चिमी कलाकार और आधुनिक भारतीय कलाकार में भेद इस बात में है। अवनीन्द्रनाथ से लेकर आधुनिक भारतीय कलाकारों ने धारणात्मक (केसेपचुअल) होने के कारण, रूपात्मकता का प्रतिनिधित्व करनेवाले दृष्टिकोण को नहीं भुलाया, साथ ही प्रकृति का अनुकरण भी उनका उद्देश्य नहीं था।

विषय के साथ भारतीय कला का रूप बढ़ा है या यों कह सकते हैं कि प्रेरित दृष्टि ने कलाकार की रूप सृष्टि में सहायता की है, इन रूपों में यथार्थता की झलक मिलती है वस्तु या तथ्य नहीं।

आधुनिक कला के क्षेत्र में भारतीय कलाकारों को पश्चिम के अतिवादी कलाकारों से अलग करनेवाले प्रधान भेद की मैंने चर्चा की है। अब मैं संक्षेप में उन समान तत्त्वों की समीक्षा करूँगा जो संसार के भिन्न भागों के आधुनिक कलाकारों को मिलाती हैं।

सर्वत्र आधुनिक कलाकार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर कार्य कर रहे हैं। आज के युग का पथ-दर्शक सिद्धान्त व्यक्तिवाद है। साथ ही आधुनिक कलाकार दिन व दिन यंत्र उद्योग के प्रभाव क्षेत्र की ओर आकर्षित होते जा रहे हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ आधुनिक औद्योगिक सभ्यता व्यक्तिवाद को स्वीकार नहीं करती। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्त समानता चाहते हैं। इस स्थिति में कला या तो यंत्र की दास के रूप में पनपेगी या प्रतिक्रिया के रूप में—कला बौद्धिक वैराग्य का आश्रय प्राप्त करना चाहेगी। आधुनिक

योरोपीय कला में बुद्धि और भाव के बीच, मेल या सचाई अत्यंत विरल वस्तु है। अमेरिका के आधुनिक कलाकार नए ढंग से सत्यता के प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु भविष्य अनिश्चित है। यदि उन्हें सफलता मिलती है तो एक बार फिर भारतीय परंपरा और धारणात्मक दृष्टिकोण के मूल्य को स्वीकृति मिलेगी तथा आधुनिक भारतीय कलाकार की देन भारतीय कला के भविष्य के लिए प्रेरक शक्ति सिद्ध होगी।

(समाप्त)

पण्डित सहजश्री

(भारतीय संस्कृति के एक विस्मृत प्रकाशवाहक)

राङ् युन ह्वा

चीन के असंख्य बौद्ध पैगोडाओं में केवल चार का भारतीय बौद्ध स्तूपों के आदर्श के अनुसार निर्माण हुआ है। अन्य पैगोडाओं को यद्यपि अनेक विद्वानों ने स्तूप कहा है, परन्तु वे वास्तव में चीनी शैली के अनुसार निर्मित हुए हैं, जिसे **था** कहते हैं, भारतीय स्तूपों से वे बहुत ही कम मिलते जुलते हैं। सातवीं शती ईस्वी में भारत की यात्रा से लौटकर प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वान-त्सांग ने जो पैगोडा बनवाया था, वह भी अपवाद नहीं था। यद्यपि यह दावा किया गया था कि वह भारतीय स्तूप के अनुकरण पर बनाया गया था तथापि चीनी ढंग की निर्माण पद्धति उसमें स्पष्ट है।

भारतीय शली में निर्मित प्राचीनतम चीनी पैगोडा पंद्रहवीं शती ईस्वी का बना है। पेकिंग नगर के बाहर, पश्चिमी प्रवेशद्वार—शी ची-मेन से लगभग एक मील दूर एक खुली जगह में यह स्थित है। यह स्तूप प्रारंभ में टेङ्-च्युए-स्सू (भूत-बोधि-विहार) नामक बौद्ध विहार का एक अंग था। इस विहार का अधिक प्रचलित नाम वू-था-स्सू तर्थात्—पंच स्तूप विहार[1] है। यद्यपि अपेक्षाकृत यह पीछे का बना हुआ है तथापि वास्तुकला और ऐतिहासिकता की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। वास्तुकला की दृष्टि से भारतीय शैली के अनुसार निर्मित यह सबसे प्राचीन चीनी स्तूप है। सिद्धान्त की दृष्टि से सजावट और मूर्तियों पर बौद्ध तान्त्रिक विचार-धारा का विशेष प्रभाव लक्षित होता है, और इस प्रकार की वास्तुकला के नमूने चीन में अत्यंत विरल हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्तूप भारत-चीनी सांस्कृतिक संबंधों के एक विस्मृत अध्याय का स्मरण कराता है तथा भारतीय संस्कृति के एक विस्मृत प्रकाश-वाहक का स्मारक है, जिसने अपने उद्देश्य और विचारों के लिए उत्सर्ग किया।

---

१. इस विहार के चित्र और विवरण के लिए दे० तोकीवा दाईजो तथा सेकीनो तेई, शीना बूक्क्यो शीकेशी ह्योकई (स्टडीज़ अव् दी बुधिस्ट मान्युमेंट्स अव् चाइना), तोकियो, १९२८, जिल्द ५, पृ० २३०-३३। तथा द० लिन् यु टांग, इम्पेरिअल पीकिंग ; सेवेन सेंचुरीज़ अव् चाइना, लंदन, १९६१, पृ० १२०, १२५ तथा फलक संख्या ३४। किन्तु प्रसंग से संबंधित सर्वोत्तम संदर्भ है—लो-चे-वेन की पुस्तिका-वू-था-स्सू (पाँच पैगोडाओं का विहार), पीकिंग, १९५७।

स्तूप के आधार के दोनों ओर पत्थरों पर दो शिलालेख हैं। शिलालेख का काल मचूरिया के सम्राट छि-एन-लुग के शासन का छब्बीसवाँ वर्ष दिया हुआ है, जो सन् १७६१ ई० ठहरता है। आधार के पूर्व की ओर के पत्थर का शिलालेख चीनी और मचूरियाई दोनों लिपियों मे खुदा हुआ है। पश्चिम की ओर का शिलालेख मगोलियाई और तिब्बती लिपियों में खुदा है। इन सभी भाषाओं में तथा लिपियों में खुदे शिलालेखों का विषय एक ही है।

किन्हीं प्राचीन स्रोतों से उद्धृत करते हुए, इन शिलालेखों मे कहा गया है कि "युग-लो-युग के प्रारभ के वर्षों में (लगभग पद्रहवीं शती का आरभ) पण्डित नामक एक भारतीय भिक्षु महान् राजगुरु था जो पश्चिम से आया था। उसने बुद्ध की सुनहरी मूर्तियों और वज्रासन की एक सुनहरी प्रतिमा (मिंग दरबार मे) भेंट की। इसके पश्चात् (पेकिंग के) पश्चिमी उप-नगर के बाहर टेङ्-च्युए-स्सु विहार की स्थापना के लिए एक भूमिखण्ड चुना गया। वज्रासन की आकृति का सिहासन निर्मित हुआ, जिस पर पाँच स्तूप खड़े किए गए हैं। यह मध्यवर्ती भारत (अर्थात् बोधगया)[२] के असली वज्रासन से मिलता-जुलता है"। यद्यपि इन शिलालेखों मे अट्ठारहवीं शती ईस्वी सन् दिया हुआ है तथापि यह कहा गया है कि ऊपर उल्लिखित अश पद्रहवीं शती के पुराने शिलालेख से लिए गए हैं। यह शिलालेख अब प्राप्त नहीं है। शिलालेखों मे जिन तथ्यों का उल्लेख हुआ है, विशेषरूप से विहार से पण्डित सहजश्री के सबध के विषय में, वे भले ही पूर्णरूप से सही न हों फिर भी बौद्धमत के इतिहास के अन्तर्राष्ट्रीय एक विस्मृत अध्याय का तो उल्लेख उसमे मिलता ही है।

'विस्मृत अध्याय' शब्दो का प्रयोग साभिप्राय है। वास्तव मे जब हम भारत और चीन के बीच सांस्कृतिक सबधों के इतिहास से सबधित पुस्तकें या सदर्भ ग्रथ—चीनी, जापानी तथा योरोप की भाषाओं में प्रकाशित ग्रथ पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है जैसे कि इन दो महान् देशों के सांस्कृतिक सपर्क भारत में मुसलमान राज्य की स्थापना के साथ ही समाप्त हो गए। दूसरे शब्दों मे कहे तो इसका अर्थ होगा ईस्वी सन् की तेरहवीं शती के पश्चात् भारत और उसके उत्तरवर्ती पड़ोसी के बीच बौद्धधर्म विषयक कोई सपर्क नहीं रहा। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सहस्र वर्ष पुराना धार्मिक सपर्क एकदम हमेशा के लिए विच्छिन्न हो गया हो। किन्तु इधर की शोधों के फलस्वरूप यह सर्वसम्मति से स्वीकृत मत अब अमान्य सिद्ध हो गया है, इस प्रसग में चीन में पण्डित सहजश्री का जीवन और कार्य एक अत्यत महत्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

---

२ शिलालेख की छाप से उद्धृत जिसे लेखक ने स्व० प्रो० वाल्टर लीबेन्थाल के सग्रह से प्राप्त किया, जब वे विश्वभारती में अतिथि अध्यापक थे।

पण्डित सहजश्री कौन थे ? चीन में वे कहाँ से आ पहुँचे। उस देश में उनका जीवन कैसे व्यतीत हुआ तथा चीन को उनकी देन क्या थी ? इन प्रश्नों का उत्तर देना सरल नहीं है। इसके लिए धार्मिक साहित्य के विशाल संग्रह, शासकीय अभिलेख, शिलालेख तथा इधर की शोध सामग्री३ की परीक्षा करनी होगी और विश्वसनीय प्रमाण खोजने पड़ेंगे। न्यूयोर्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित मिंग बायोग्रेफिकल हिस्ट्री४ (मिंगों का जीवनी-विषयक इतिहास) के लिए लिखित अपने इधर हाल के एक लेख में मैंने पण्डित सहजश्री का संक्षेप में जीवनवृत्त दिया है। उसमें उनके कार्यों तथा जीवन की रूपरेखा दी है। किन्तु स्थानाभाव तथा उक्त प्रकाशन की एक निर्दिष्ट शैली के कारण मैं इस भारतीय बौद्ध भिक्षु के जीवन के विषय में विस्तार के साथ वहाँ नहीं लिख सका। इस लेख में भिक्षु के जीवन तथा कार्यों के संबंध में मैं प्राप्त सूचनाओं का विस्तार से परिचय दे रहा हूँ।

सरकारी अभिलेखों तथा पुराने लेखों में इस भारतीय साधु का नाम पन्-ति-त् मिलता है जो संस्कृत पण्डित का परिवर्तित रूप है। बौद्ध साहित्य में प्राप्त सूचनाओं से ज्ञात होता है

---

३. भारतीय भिक्षु के जीवन पर प्रकाश डालनेवाले प्रधान स्रोत हैं :—(अ) सी-थिएन पन्-ति-त-शी-ची-ल्युए (पण्डित—पश्चिम से आए गुरु—से संबंधित लेख) भिक्षु ची-कुआँग (१४३५ ई० में मृत्यु हुई) द्वारा रचित, ये स्वयं सहजश्री के शिष्य थे। ये लेख चीन-लिङ्-फन-सा ट्री (नानकिंग के बौद्ध मंदिर) नामक एक बड़े संग्रह में प्राप्त हैं। लेखक कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एल० सी० गुडारिच का कृतज्ञ है, जिन्होंने कृति की प्रतिकृति लेखक के उपयोगार्थ भेजी। (ब) पू-सू-काओ-सेङ चुआन (प्रसिद्ध भिक्षुओं की जीवनियाँ) भिक्षु मिंग-हो (१६१० ई० के आसपास) द्वारा लिखित। यह कृति सू-त्सांग-चिंग अर्थात् पूरक चीनी त्रिपिटक (शंघाई—पुनर्मुद्रित १९२८) में प्राप्त है—II बी। v11। १ पृ० २७ डी—२८ बी।

पण्डित से संबंध रखनेवाले महत्त्वपूर्ण लेख हैं—(स) ली-पू-ट्री काओ (आचार मंत्रालय के अभिलेख), सोलहवीं शती ईस्वी के प्रारंभ में यू-जू-ची द्वारा प्रस्तुत मंत्रालय के सरकारी अभिलेखों का वर्गीकृत संग्रह। स्सू-खू छुआन-शू टेन-पेन संस्करण, अध्याय ९२ पृ० ४१ अ-४२ अ और (द) सत्रहवीं शती के फूबेई-लिन कृत मिङ्ग-शू अर्थात् मिङ्ग वंश का ग्रंथ त्सुंग-शू ची ठेंग संस्करण।

४. प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखित जीवनी ड्राफ्ट मिंग बायोग्रेफीज़ नं० ५, १९६६ में प्रकाशित। यह मिंग बायोग्रेफिकल हिस्ट्री में सम्मिलित की जावेगी जिसका प्रकाशन कोलंम्बिया यूनिवर्सिटी, न्यूयोर्क तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की एसोशिएशन फार एशियन स्टडीज़ सम्मिलित रूप में करेंगे।

कि उनका पूरा नाम पण्डित सहजश्री था। इनका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था, वे कपिलवस्तु के रहनेवाले थे, जो भारत-नेपाल की सीमा पर बसी हुई है, तथा जो बौद्ध-यात्रियों का पवित्र तीर्थ है५। वे वयस्क हुए तो उन्होंने अपना पारिवारिक जीवन छोड़ दिया और सु-लो-सा विहार मे वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए६। सु-लो-सा विहार नाम समवत संस्कृत सूरसेन विहार का लिप्यतर है। भारतीय स्रोतों के आधार पर इस नाम के विषय में निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त होते। साहित्यिक या शिलालेखीय ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जो इसका निर्णय करने मे सहायक हो। किन्तु कल्हण की राजतरगिणी के अनुसार काश्मीर मे चकुणविहार नामक एक बौद्ध विहार के अस्तित्व की सूचना प्राप्त होती है। ए० स्टाइन ने सुझाया है कि चकुण कदाचित् चीनी सैनिक उपाधि च्यांग-कि ऊन का तोखारी लिप्यतर है, इसका अर्थ सैनिक पदाधिकारियों का सेनापति है७। जब चीनी यात्री वू-खुङ ने आठवीं शती ईसी के उत्तरार्द्ध में काश्मीर को घाटी की यात्रा की थी, उस समय उसने अन्य बौद्ध विहारों के साथ सेनापति के विहार का भी उल्लेख किया है८। इन प्रमाणो के आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि शूरसेन-विहार नाम चकुण या सेनापति के विहार का संस्कृत रूप हो सकता है। अन्य दृढ़ प्रमाणों के न मिलने तक यह सुझाव स्वीकार किया जा सकेगा। विहार का मूल नाम कुछ भी हो इससे भारतीय संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है और वह है—काश्मीर में चौदहवीं शती ईसी में बौद्ध धर्म और विहारों के सक्रिय रूप में विद्यमान होने की सूचना९।

---

५ उपरिनिर्दिष्ट (अ) तथा (ब) आधार-सामग्री में कहा गया है कि वे कपिलवस्तु के रहनेवाले थे, जबकि (स) मे केवल यह कहा गया है कि भिक्षु पश्चिम का निवासी था, और (द) मे कहा गया है कि वह मध्य भारत से आया था। चूँकि आगेवाले आधार अधिक निश्चित रूप से कपिलवस्तु का उल्लेख करते हैं और चीनी बौद्ध भूगोलवेत्ता कपिलवस्तु को मध्य भारत में पश्चिम की ओर मानते हैं अत इसे स्वीकार करना उचित होगा।

६ मूल स्रोत (अ) अध्याय ३७ पृ० १ ब—२ अ।

७ स्टाइन, एम० ए०, कल्हण की राजतरगिणी, दिल्ली, १९६१, ४-पद्य २११।

८ देखिए एस० लेवी तथा एड० शावान्न—ल' इतनेरेट द' ऊकोंग (७५१-७९०), जूर्नाल अशियातीक, ६ (१८९५), पृ० ३५२ तथा आगे।

९, इससे काश्मीरी प्रमाणों की पुष्टि होती है जो सिद्ध करते हैं कि पहले चार मुसलमान शासकों के राज्यकाल मे भारतीय निवासियों की परपरागत जीवन चर्चा, धर्म, भाषा, संस्कृति में हस्तक्षेप नहीं किया गया, देखिए—जे० एन० गन्हार और पी० एन० गन्हार, बुद्धिज्म इन काश्मीर एण्ड लद्दाख (नई दिल्ली १९५६) पृ० १४३ और आगे।

पण्डित की धार्मिक शिक्षा के विषय में बौद्ध स्रोतों से हमें ज्ञात होता है कि भिक्षु के रूप में दीक्षित होने के पश्चात् उसने पंच विद्या, बौद्ध सूत्र, विनयपिटक, तथा शास्त्रों का भली-भाँति अध्ययन किया था। धार्मिक विषयों से संबंधित आलोचनाओं और सैद्धान्तिक शास्त्रार्थ में काश्मीर में उनकी प्रतिष्ठा श्रेष्ठतम आचार्य के रूप में थी। अन्त में उन्होंने अनुभव किया कि वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ धर्म के क्षेत्र में अंतिम सत्य नहीं हैं। इसलिए वे हिमाच्छदित पर्वतों की ओर चले गए और पर्वतों में अकेले रहे और बारह वर्ष तक ध्यान समाधि में मग्न रहे। साधना के फलस्वरूप उन्होंने **शमथ** की अनुभूति प्राप्त की१०।

पण्डित सहजश्री के चीन में जाने का क्या उद्देश्य था? प्राचीन लेखों तथा राजकीय अभिलेखों के अनुसार वे चीन में "कर के उद्देश्य से"११ गए थे। किन्तु बौद्ध स्रोतों से ज्ञात होता है कि 'उन्होंने सुना था कि चीन में एक पर्वत था, जिस पर पाँच उच्च शिखर थे, उसका नाम था शुद्ध शीतल पर्वत जहाँ बोधिसत्त्व मंजुश्री प्रायः आविर्भूत होते थे। उन्होंने इस स्थान की यात्रा के लिए महत्त्वपूर्ण समझा१२।" इन दो परंपराओं में से यात्रा विषयक परंपरा अधिक संगत लगती है, क्योंकि पहले तो उनको यात्रा का कोई राजनैतिक उद्देश्य रहा हो ऐसा नहीं प्रतीत होता। केवल यह हो सकता है कि चीन के मंगोल शासकों के दरबार में विदेशी बौद्ध भिक्षुओं को बहुत सम्मान मिलता था। किन्तु जब हम सांसारिक प्रपंच के प्रति उनके दृष्टिकोण पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि वे इस प्रकार के व्यक्ति नहीं थे। इस प्रसंग में दूसरी संभावना यह हो सकती है कि काश्मीर की तत्कालीन परिस्थिति बौद्धभिक्षुओं के लिए कदाचित् बहुत अनुकूल नहीं रही होगी, अतः वे दल बनाकर घाटी छोड़कर चीन जा रहे थे। इस सुझाव को मान लिया जाय तो भी 'कर वसूली के उद्देश्य' से उसका कोई संबंध नहीं है जैसा कि सरकारी अभिलेख में कहा गया है कि वे मिंग राजा के दरबार में गए। मिंग वंश के स्थापित होने के बहुत वर्ष पूर्व वे चीन गये थे।

एशिया के बौद्धों के लिए वू-थाई-शान या पंच-शिखर-पर्वत तीर्थ स्थान के रूप में मान्य था। केवल चीनी भिक्षु और गृहस्थ ही वहाँ की यात्रा नहीं करते थे, कोरिया, जापान तथा

---

१०. उनके पाण्डित्य के संबंध में विस्तार से स्रोत (अ) में सूचनाएँ मिलती हैं, अनुभवों के लिए स्रोत (ब) द्रष्टव्य है।

११. स्रोत (स), अध्याय, ९२ पृ० ४१ अ; तथा ती-चिंग चिग-वू लुए अर्थात् राजकीय नगर के दृश्यों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ, अध्याय ५, पीछे उद्धृत कृति लो चे-वेन से पुनर्उद्धृत।

१२. स्रोत (अ), अध्याय ३७, पृ० २ अ।

भारतीय बौद्ध भी यहाँ बोधिसत्त्व मंजुश्री की पूजा करने जाते थे। उदाहरणार्थ, उस पर्वत की यात्रा करनेवाले भारतीय यात्रियों की सूची में बुद्धपालि, जिसने ६७६ ई० में उस पर्वत की यात्रा की१३, धर्मदेव, जिसने दसवीं शती में पर्वत की यात्रा की१४ के उल्लेख मिलते हैं। चीन के इस पवित्र स्थान की यात्रा करनेवाले अन्य भारतीय यात्री भी रहे होंगे, किन्तु दुर्भाग्य से उनके नाम खो गए हैं, यद्यपि कुछ संकेत उपलब्ध हैं१५।

पण्डित ने जब चीन यात्रा करने का निश्चय कर लिया, तो अपने ग्यारह शिष्यों के साथ काश्मीर की घाटी से विदाई ली और चीन के लिए मध्य एशिया के मार्ग से रवाना हुए। उन्होंने सिन्धु नदी पार करके तुर्क, कूचा, तुर्फान राज्यों को पार करते हुए पूर्व की ओर बढ़ते हुए हजारों मील की दूरी तय की। जहाँ जहाँ हो कर वे गए उन राज्यों के राजाओं और सामन्तों तथा राज्य के अधिकारियों ने उनके द्वारा प्रतिपादित बौद्ध सिद्धान्तों को स्वीकार किया। चार वर्ष की लम्बी यात्रा के पश्चात् उनका दल चीन के कान्सू प्रान्त में पहुँचा१६। काश्मीर से सहजश्री के प्रस्थान के समय का निश्चित उल्लेख नहीं मिलता तथापि उसका अंदाज लगाया जा सकता है। अपने दल को लेकर वे १३६४ ई० में पीकिंग पहुंचे, और मार्ग में उनको चार वर्ष लगे, इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे काश्मीर से १३६० ई० में रवाना हुए होंगे। संभवत यहाँ से वे ग्रीष्म काल में रवाना हुए होंगे जब कि काश्मीर की घाटी और मध्य एशिया के बीच आवागमन के मार्ग खुले रहते थे।

---

१३ देखिए प्र० च० बागची, ल कानों बूधीक ऑं शीन, भाग २, (पेरिस। कलकत्ता) पृ० ५१२।

१४ देखिए—प्रस्तुत लेखक का लेख 'बुद्धिस्ट रिलेशंस बिट्वीन इण्डिया एण्ड शुंग चाइना' हिस्ट्री अव् रिलिजन्स, भाग ६ (१९६६), शिकागो यूनिवर्सिटी, पृ० ३९।

१५ उदाहरण के लिए, नौवीं शती ई० में संग्रहीत भिक्षु कुआन टिउ कृत' ठान युए-ची (ध्यान और चंद्र पर कविताएँ) के सातवें अध्याय में पाँच कविताएँ हैं जिनका शीर्षक है— 'यू वू थिएन सँग जू वू-थाई वू-स्' (पाँच कविताएँ जिनकी मैंने पाँच शिखरवाले पर्वत की यात्रा के लिए जानेवाले भारत के पाँच प्रान्तों से पधारे भिक्षुओं से मिलने के बाद रचना की), च्छुंग-शू ची ठेंग संस्करण, पृ० ७५।

१६ स्रोत (अ) तथा (ब)।

सहजश्री के चीन की राजधानी में पहुँचने की तिथि के संबंध में पर्याप्त मतभेद है। जैसा कि हम देख चुके हैं, आठारहवीं शती के एक लेख के अनुसार उनके आगमन का वर्णन मिलता है कि वे युंग-लो युग के प्रारंभिक वर्ष में[१७] या पन्द्रहवीं शती ईस्वी के आरंभ में वहाँ पहुँचे। एक सरकारी सूत्र के अनुसार पीकिंग में वे 'कुछ पहले'[१८] पहुंचे। एक बौद्ध अभिलेख में केवल इतना कहा गया है कि वे सम्राट् थाई-त्सू, मिंग वंश के संस्थापक से १३७४ ई० में मिले[१९], किन्तु इस उल्लेख में यह नहीं कहा गया कि वे कब और कहाँ मिले तथा पहले-पहल वे चीन कब आए। किन्तु उस प्रसंग में दो विश्वसनीय आधार प्राप्त हैं, जिनकी सहायता से इस भ्रम का निराकरण किया जा सकता है—पहला आधार है स्वयं पण्डित के एक शिष्य के द्वारा लिखित विवरण और दूसरा है एक राजकीय अभिलेख। उनके शिष्य के द्वारा लिखित विवरण के अनुसार गुरु 'मार्ग में चार शीत और चार ग्रीष्म ऋतुएँ बिताने के पश्चात् कांसू प्रान्त में पहुँचे[२०]। जब मंगोल सम्राट ने पण्डित के आगमन का समाचार सुना तो कुछ राजकीय दूत उनके स्वागतार्थ तथा उन्हें पीकिंग आमंत्रित करने के लिए भेजे। मिंग-शू अर्थात् मिंग वंश की पुस्तक में पीकिंग के मंगोल दरबार में उनके पहुँचने की तिथि के संबंध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है, 'चीह-चैंग युग के च्या-शेन वर्ष में'[२१] पहुँचे। यह समय १३६४ ई० ठहरता है। इसके पश्चात् वे चीी-सियांग-फा-युन विहार (श्री धर्म मेघ विहार)[२२] में ठहरे। अनेक व्यक्ति उनका सम्मान करते थे, उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। इनमें से उनके एक शिष्य ने अपने गुरु के संबंध में सूचनाएँ लिपिबद्ध की हैं।

मंगोल सम्राट और पण्डित सहजश्री के संबंध के विषय में चर्चा करते हुए उनके शिष्य ने लिखा है कि मंगोल सम्राट् राज्य से संबंधित कुछ मामलों में पण्डित से परामर्श करते थे पण्डित कभी स्वीकारात्मक निश्चित उत्तर देते थे और कभी-कभी निषेधात्मक उत्तर भी देते थे। अतएव 'यद्यपि राज दरबार में भव्यतापूर्वक उनका स्वागत किया जाता था तथापि मंगोल

---

१७. देखिए लो-द्रे-वेन, उपरि उद्धृत पृ० १।

१८. देखिए स्रोत (स) अध्याय ९२ पृ० ४१ अ।

१९. स्रोत (ब) अध्याय १, पृ० २७ द।

२०. स्रोत (अ), पृ० २ अ।

२१. स्रोत (द), पृ० ३१५५।

२२. वही—इसके आधार पर मंगोल सम्राट ने पण्डित सहजश्री से स्वयं बौद्ध उपदेश प्राप्त किए थे और अभिषेक के नियमों के अनुसार सहजश्री ने अभिषेक किया था।

शासक के साथ उनकी बातचीत और सबध कभी मैत्रीपूर्ण नहा रहे"२३। फलस्वरप वे वू-थाई-शान पर्वत की यात्रा करने पीकिंग से चले गए और पवित्र पर्वत की यात्रा के अपने उद्देश्य को पूरा किया। स्थानीय निवासियों ने उनका इस प्रकार सम्मान किया जैसे पुराने बुद्ध फिर पृथ्वी पर लौट आए हों।

पीकिंग में मगोल शासक के राज दरबार तथा मगोल सम्राट के साथ उनके सपर्क के सबध मे कुछ चीनी इतिहास लेखक मौन क्यों रहे, इसे समझा जा सकता है। इसका कारण यह है कि अधिकाश अभिलेख मिंग शासनकाल मे लिखे गए या एकत्रित किए गए, मिग वश ने चीन में मगोल शासन का अन्त किया था। भिक्षु के अनुयायियों ने, स्वाभाविक है, इन तथ्यों का उल्लेख नहीं किया क्योंकि उन्हे ह्रासकालीन मगोल शासक के साथ अपने गुरु के सपर्कों का भी उल्लेख करना पडता और कदाचित् आलोचना भी। इस आलोक में जब हम उनके शिष्य के उस उल्लेख 'तथापि (मगोल) सम्राट के साथ उनका सपर्क और परामर्श कभी मैत्रीपूर्ण नहीं रहा' पर विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि विगत राजदरबार के साथ उनके राजनैतिक सपर्क को भुलाने का प्रयत्न किया गया है। इस कथन और व्याख्या को यदि हम स्वीकार कर लें तो पण्डित सहजश्री तथा उनके दल के चीन मे पहुँचने की तिथि उससे आधी शती पहले ठहरती है, जो शिलालेख में लिखी मिलती है।

मगोल राज्य को जब चीनियों ने उखाड़ फेंका तो मिग वश का राज्य स्थापित हुआ तथा नानकिंग चीन की नई राजधानी बनाई गई। पण्डित सहजश्री और उनके शिष्यों ने देश की बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल अपने को बना लिया। १३७१ ई० में वे नानकिंग गए, मिग बादशाह से उन्होंने भेंट करने की इच्छा प्रकट की। सम्राट ने भेंट करना स्वीकार किया। उनकी वार्ता से सम्राट बडा प्रसन्न हुआ और उन्हें शान शी छ'न-शी (कल्याण लोक-ध्यान-आचार्य) की राजकीय उपाधि से विभूषित किया गया। उन्हें एक रजत उपहार प्रदान किया गया और चीन में बौद्ध कार्यों की देखरेख का भार उनको सौंपा गया। पण्डित के निवास के लिए एक मदिर के निर्माण की भी आज्ञा दी गई। आचार मन्त्रालय को सम्राट ने यह आदेश भी दिया कि जो कोई भारतीय भिक्षु से दीक्षा लेना चाहे, उसके मार्ग में सरकारी कर्मचारी बाधक न बने२४।

इन सब विवरणों से यह स्पष्ट है कि मिग राजवश के साथ पण्डित के सबध सौहार्दपूर्ण थे।

---

२३ स्रोत (अ) पृ० २ अ।

२४ सभी आधार ग्रथों में इन तथ्यों का उल्लेख मिलता है।

अनेक लेखकों ने यह उल्लेख किया है कि जब भी सम्राट् नानकिङ्ग के समीपवर्ती चुंग-शान पर्वत की यात्रा करते, जिसके पास ही पण्डित का मंदिर था, सम्राट अवश्य ही मंदिर जाते और भारतीय भिक्षु से भेंट करते तथा बातचीत करते। कभी-कभी उनकी बातचीत घंटों चलती। एक राजकीय कविता की रचना हुई और अन्य उपहारों के साथ उसे पण्डित को भेंट में दिया गया। सम्राट ने भारतीय भिक्षु के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया और सत्कार तथा शिष्टाचारपूर्ण वचन कहे।

राजाज्ञा के अनुसार चीन के मध्य और पूर्वी प्रान्तों में स्थित बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा की। १३७६ ई० की शिशिर ऋतु में नानकिङ्ग से वे रवाना हुए, उन्होंने फू-ठो द्वीप की यात्रा की और बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की२५। इसके पश्चात् वे थिएन-मू पर्वत के सिंह शिखर पर चढ़े, पेंग-ली (अर्थात् पोयांग) झील को पार किया और लू-शान पर्वत की ओर गए। वहाँ से हुआइ नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़े और बौद्धधर्म के छ'अन (जेन) संप्रदाय (अर्थात् लाओ-शिन-५८०-६५१ ई०) और हुंग-रेन (६०२-६७५ ई०) के क्रमशः चौथे और पाँचवें धर्मगुरुओं के अवशेषों को सुरक्षित रखनेवाले स्तूपों की यात्रा की।

इस यात्रा के बाद जब वे नानकिंग लौटे तो सम्राट् ने हुआ-काई प्रासाद में उनसे भेंट की तथा उदारतापूर्वक अनेक उपहार दिए। जिन व्यक्तियों ने उनसे दीक्षा ली अथवा उनके पथ में दीक्षित हुए उनकी संख्या अस्सी हजार थी२६। जनता द्वारा उनको अपार कोष भेंट किया गया और संपूर्ण राशि उन्होंने या तो दीन-दरिद्र लोगों में बाँट दी या बौद्ध मठ विहारों के जीर्णोद्धार में खर्च कर दी। वे कहा करते थे कि अपने लिए उन्हें धन की कोई आवश्यकता नहीं है।

जीवन के अंतिम समय में उनके पैरों में कुछ रोग हो गया था और वे चल-फिर नहीं पाते थे। यद्यपि सम्राट् के वैद्यों ने उनका उपचार किया किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि उन्हें सावधानी से बुद्ध द्वारा उपदिष्ट नियमों का पालन करना चाहिए। उन्होंने अपने भारतीय शिष्य कुमारश्री, जिसे चीनी लिप्यंतरकारों ने मूल संस्कृत के आधार पर कु-मा-लो-शि-ली या को-म-ल-शि-ली लिखा है, को आदेश दिया

---

२५. आधार (अ) और (द) के अनुसार सम्राट की आज्ञा से पण्डित फू-थो द्वीप की यात्रा करने गए थे।

२६. आधार (अ) के अनुसार।

था कि वे उनकी भस्म को वू-थाई पर्वत पर बिखेर दें[२७]। जून १६, सन् १३८१ ई० [२८] को उनका देहावसान हुआ। उनके अवशेषो को इकट्ठा करके जहाँ उनकी देह जलाई गई थी, उस स्थान पर नानकिंग के छू-याओ प्रवेशद्वार के बाहर एक पैगोडा का निर्माण किया गया[२९]। स्मारक मंदिर का भी निर्माण हुआ, जिसका उद्घाटन सम्राट् ने किया और उन्होंने उसका नाम रखा शी थिएन विहार। शी-थिएन का अर्थ है 'पश्चिम-भारत' पश्चिमी भारत जो इस साधु की जन्मभूमि का संकेत करता है।

मिंग सम्राट् के दरबारी भिक्षु के रूप में पण्डित सहजश्री की देन महत्त्वपूर्ण है—अन्य भिक्षुओं के लिए वे एक आदर्श थे, बौद्धधर्म के प्रति सरकारी नीति के संबंध में उन्होंने सम्राट् को प्रभावित किया। विदेशी होने के नाते उनका विशेष सम्मान था और बौद्ध धर्मानुयायियों के प्रति सम्राट् के क्रोध और उसके कड़े रुख को कोमल बनाने में उनका प्रभाव महत्त्वपूर्ण था। इस प्रसंग में सम्राट के व्यक्तिगत चरित्र का भी परिचय देना युक्तिसंगत होगा इससे बौद्धसंघ पर उनका प्रभाव भी हो सकेगा। सम्राट के स्वभाव और नीति को सम्मुख रखकर देखने से ज्ञात होगा कि पण्डित सहजश्री का कार्य कितना महान् था। यद्यपि अपने बाल्यकाल में सम्राट् किसी समय भोजन और वस्त्रों के लिए एक बौद्ध विहार में श्रामणेर था तथापि इसका उसकी धार्मिक नीति पर विशेष अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा। संभव है कि वह संघ का पूर्व सदस्य होने के कारण संघ के जीवन की बुराइयों को अधिक जानता था। भिक्षुओं के प्रति उसका दृष्टिकोण बहुत कठोर था। भिक्षुओं को बहिष्कृत करने के लिए उसने अनेक आदेश दिए जिनमें से अनेक वास्तव में बहुत ही निर्दयतापूर्ण थे। उदाहरण के लिए, अपने शासन के २५वें वर्ष में नए भिक्षुओं को दीक्षा देने के संबंध में उसने राजाज्ञा दी तो तीन हजार ऐसे व्यक्तियों ने भी दीक्षा प्राप्त करने के लिए आवेदन दिए जो उसके योग्य नहीं थे। जब सम्राट् को इसकी सूचना मिली तो उसने तत्काल तीनों हजार आवेदकों को बंदी करके सभी का वध करवा देने का विचार किया। एक भिक्षु ने अपने पापों का उत्सर्ग करके उनको बचाया तथापि इससे यह स्पष्ट है कि अपने सहधर्मियों के प्रति उसका कितना कठोर व्यवहार था[३०]। ऐसी कठिन परिस्थिति में पण्डित सहजश्री की चीनी बौद्ध संघ के प्रति सेवाये और भी अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई।

---

२७ वही।

२८ वही तथा आधार (द)।

२९ वही।

३० देखिए स्रोत (द) पृ० ३१५४—युग-लुंग शीर्षक के अन्तर्गत।

पण्डित सहजश्री को अन्य देनों में उनकी दो साहित्यिक कृतियाँ हैं—(१) शी-छुंग-यू अर्थात् बौद्धों के लिए उपदेश—जिसमें तीन अध्याय हैं और (२) पा-द्री-चिए पेन अर्थात् प्रथम आठ आदेश३१। उनके द्वारा रचित एक और कृति का उल्लेख मिलता है जिसका नाम है—**जू-चुंग-ती-जू पू सा-चिए** अर्थात् शिष्यों के चार वर्गों के लिए बोधिसत्त्व के आदेश३२। किन्तु यह कृति उपरि संकेतित संख्या दो से भिन्न नहीं प्रतीत होती। जो हो, इस समय इनमें से कोई भी कृति उपलब्ध नहीं है—जिसका कारण कदाचित् यह है कि मिंग युग के बहुत पूर्व चीनी में अनूदित विनय ग्रंथों से ये कृतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थी। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पण्डित सहजश्री के निर्देश में दीक्षा पानेवाले बौद्धों की संख्या अस्सी हजार थी। कुछ बौद्ध लेखकों ने चीन में उनके आगमन को भारत और चीन के बीच के धार्मिक संबंधों के पुनरुज्जीवन का प्रतीक बताया है।

अंत में इस प्रश्न पर विचार करना है कि क्या जैसा कि कुछ लेखों में कहा गया है कि पण्डित सहजश्री ने वू-था-शू विहार का निर्माण कराया था? पीछे के कुछ लेखों में तथा कुछ शिलालेखों में कहा गया है कि पण्डित सहजश्री युंग-लो युग के प्रारंभ में अर्थात् १४०३ से १४२४ ई० के आसपास राज दरबार में पहुँचे। इन स्रोतों में यह भी कहा गया है कि पीकिंग के पाँच पैगोडावाले विहार को भी उन्होंने ही बनवाया। इधर के कुछ शोध कार्यों में भी इस परंपरा को दुहराया गया है—जैसे तोकीवा दाइजो और सेकीनो तेई,३३ शान-शी-युआन और वांग-पेई-वेन३४ तथा लो-ट्रैन-वेन३५ की शोधों में। किन्तु यह परंपरा पीछे के स्रोतों पर आधारित है अतः विश्वसनीय नहीं है क्योंकि प्राचीन उल्लेखों में इसका खण्डन कर दिया गया है। सहजश्री का देहावसान नानकिंग में १३८१ ई० में हुआ अतः पंद्रहवीं शती ईस्वी के प्रथम पाद में उनको पीकिंग जाकर विहार निर्माण कराने की बात असंभव तथा कल्पना मात्र है।

---

३१. आधार (ब) में इन दोनों ग्रंथों का उल्लेख मिलता है।

३२. कृति का उल्लेख ट्री-कु आंग (स्रोत अ) की जीवनी में मिलता है जो चिन-लिङ्ग फन-सा ट्री, अध्याय ३२, पृ० ४ अ में है।

३३. देखिए टिप्पणी १, ऊपर।

३४. देखिए-मिंग-ताई छिएन-ट्र ता-शि मिएन-पिआओ (मिग वंश की स्थापत्य कला से संबंधित घटनाओं का वार्षिक विवरण) लेखक-शान तथा वाङ्ग, (पीकिंग १९३७), भाग ४, पृ० ७९।

३५. देखिए लो ट्रे-वेन, टिप्पनी १ में उद्धृत ग्रंथ।

ग्रंथ-समीक्षा

अमृतानुभव ओ चाङ्गदेव पासष्टी—ज्ञानदेव विरचित, अनु० श्रीगिरीशचन्द्र सेन, प्रकाशक साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६५, पृष्ठ स० १२+१६५, मूल्य रु० ८·००।

ज्ञानदेव विरचित 'अमृतानुभव' और 'चाङ्गदेव पासष्टी' नामक मराठी के दो ग्रंथों का एक साथ सग्रह, बगला अनुवाद के साथ, साहित्य अकादेमी ने प्रकाशित किया है। श्रीगिरीशचन्द्र सेन ने इन बहुमूल्य ग्रथो को, अनुवाद कर के, बगला भाषा-भाषियों के लिए सुलभ बना दिया है। ग्रथ में अनुवाद के साथ बगाक्षरों में मूल पाठ भी दिया गया है, जिससे पाठकों को मूल ग्रंथ भी पढ़ने के लिए मिल जाता है। अनुवादक ने मूल ग्रंथ में १२ पृष्ठों की एक परिचयात्मक भूमिका भी जोड दी है जिससे ग्रथ का पूर्ण परिचय मिलता है। 'अमृतानुभव' दस प्रकरण में समाप्त हुआ है। ओवी छद् मे लिखे गये इस ग्रथ मे कुल ८१२ श्लोक हैं। 'चाङ्गदेव पासष्टी' में कोई प्रकरण नहीं है, श्लोक सख्या ६५ है।

'अमृतानुभव' की रचना श्री ज्ञानदेव ने गुरु निवृत्तिनाथ के आदेश से की थी।

'अमृतानुभव' में श्री ज्ञानदेव ने अद्वैत की विशद आलोचना-विवेचना प्रस्तुत की है। जीव-जगत् परमात्मा से भिन्न नहीं हैं, यही इस ग्रथ का मूल विषय है। प्रथम अध्याय में जगत के आदि जनक शिव-शक्ति की वदना की गई है। शिव शक्ति का युगल रूप उस अद्वैत आत्मतत्त्व की अभिव्यक्ति करता है। जैसे —

> अद्वैतमात्मनस्तत्व दर्शयन्तौ मिथस्तराम्।
> तौ वन्दे जगतामाद्यौ तयोस्तत्वाभिपत्तये ॥१।४॥

प्रकृति-पुरुष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद को भी ज्ञानदेव ने इसमें स्पष्ट किया है। द्वितीय प्रकरण में 'गुरु-स्तवन' है—पीडित ससार के दुःख-निवारण के लिये जिसने शरीर धारण किया है, जिसकी अपांग दृष्टि से आत्मज्ञान मिलता है और सांसारिक बधन से मुक्ति मिलती है, जिसकी कृपादृष्टि से अविद्या का नाश होता है, ऐसे गुरु और शिष्य में कोई भेद नहीं है। गुरु और शिष्य का अर्थ है 'श्रीगुरु'—

> म्हणौनि शिष्य आणि गुरुनाथू। या दोहीं शब्दाचा अर्थू।
> श्रीगुरुचि परि होतु। दोहीं ठायीं ॥२।६१॥

तृतीय प्रकरण में 'वाचाऋण परिहार' का साधन वर्णित है। 'परादि' वाणी जीव के अविद्या-रूपी बधन का नाश कर मोक्ष प्राप्ति के उपयुक्त बनाती है, इस प्रकरण का यही विषय है। चतुर्थ प्रकरण में ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप का वर्णन, पाचवें प्रकरण में सच्चिदानन्द की विशद व्याख्या, षष्ठ प्रकरण—'आत्मतत्त्व निरूपण' में शब्द की अनुपयोगिता, सप्तम प्रकरण में अज्ञान का खण्डन, अष्टम प्रकरण में अज्ञान के सापेक्ष में ज्ञान का खण्डन, नवम प्रकरण में जीव की

मुक्तावस्था का वर्णन करते हुए दशम प्रकरण में श्री ज्ञानदेव ने अपने अनुभवों को जन कल्याण हेतु इस संसार में प्रसाद के समान बांटा है—

मूहणोनि ज्ञानदेवे मूहणे। अनुभवामृतें येणेँ।
सणु भोगिजे सणेँ। विश्वाचेनि ॥१०।३१॥

'चाङ्गदेव पासष्टी' तत्कालीन महाराष्ट्रीय योगिराज श्री चाङ्गदेव के लिए लिखा गया काव्य-ग्रंथ है। इसमें जीव और ब्रह्म के 'ऐक्य' का वर्णन है। और इसी का विस्तारपूर्वक वर्णन 'अमृतानुभव' में किया गया है। उदाहरण के लिए छन्द ५२, ५३, ५९, देखे जा सकते हैं। ग्रंथ के संबंध में अनुवादक ने भूमिका में लिखा है।

'अमृतानुभव' और 'चाङ्गदेव पासष्टी' ग्रंथ का बंगानुवाद करके श्री सेन ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है जिसके फलस्वरूप आज यह धार्मिक ग्रंथ बंगला भाषा-भाषियों के लिए सुलभ हो सका है। अर्थ स्पष्ट करने के लिए अनुवादक ने यथासाध्य परिश्रम किया है तथा सजीव भाषा-और शब्दों का व्यवहार किया है। मुद्रण साफ सुथरा है लेकिन जिल्द बांधते समय असावधानी के कारण पृष्ठों का क्रम इधर-उधर हो गया है। समीक्षार्थ भेजी गई पुस्तक में पृष्ठ २ से पृष्ठ १४ तक इधर-उधर लगे हैं। इस प्रकार की असावधानी के कारण पाठकों को पढ़ते समय कठिनाई होती है।

लून य्यू—कनफुसियासेर कथोपकथन ; अनु० अमितेन्द्रनाथ ठाकुर ; प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६४ ; पृष्ठ संख्या ११+११३ ; मूल्य रु० ५'००।

मूल चीनी भाषा में लिखित 'लून य्यू' ग्रंथ का बंगला अनुवाद खुङ् फुत्स की विचार-धारा को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। स्जेमा चिएन के अनुसार कनफूशस् का जन्म ५५० ई० पू० (अनुवादक के अनुसार ५५१ ई० पू०) हुआ था। खुङ्-फुत्स (कनफूशस्) का सारा जीवन बहुत ही संघर्ष-पूर्ण रहा। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से कनफूशस् सन्तुष्ट नहीं थे। २२ वर्ष की अवस्था में कनफूशस् ने एक विद्यालय की स्थापना की थी, जिसमें सदाचार और राज्य संचालन के सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती थी। सदाचार और शासन संबंधी उनके कथोपकथनों का संग्रह इस पुस्तक में किया गया है। उन्होंने कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी थी क्योंकि उनका मत था कि 'वे विचारों के वाहक हो सकते हैं, उसके स्रष्टा नहीं'।

ईसा पूर्व ७२२ से ४८२ तक चीन का संघर्ष काल था। खुङ्-फुत्स चीन में प्रचलित सम्राट बनने की वंशगत परम्परा के कट्टर विरोधी थे। इस मत को बाद में चीन के पंडितों ने भी स्वीकार किया है। ई० पू० ४७९ में उनका निधन हुआ, उसके पश्चात् उनके शिष्यों ने उनके मत का प्रचार किया। 'योग्य व्यक्ति के हाथ राज्य भार सौंपना चाहिए'। यह सिद्धान्त उन्हीं के मत पर आधारित

है। जनता के प्रति उनकी सद्भावना सर्वदा बनी रहती थी। राजा प्रजा सुखी रहे यही उनका मुख्य उद्देश्य था। उदाहरण के लिए पृ० ३९।१०, ११, ३८।६, ७, ७५।४, ७६।१३ आदि देखिए।

श्री अमितेन्द्रनाथ ठाकुर ने चीनी भाषा के विद्वानों से भी अनुवाद-कार्य में सहायता ली है, इसलिए अनुवाद यथासाध्य प्रामाणिक हुआ है। चीनी नामों में मुद्रण संबंधी भूलें रह गई हैं जिसका उल्लेख अनुवादक ने भूमिका (पृ० १०) में कर दिया है। संपूर्ण पुस्तक बीस स्कन्धों में समाप्त हुई है। मुद्रण में यत्र-तत्र त्रुटियां रह गई हैं। छपाई साफ-सुथरी है। कनफूशियस विचार-धारा को समझने लिए यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण और पठनीय है।

—द्विजराम यादव

जयपुर